विवेक-ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
वर्ष ३३ अंक १
ष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी-फरवरी-मार्च

★ १९९५ ★

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी त्यागात्मानन्द

वर्ष ३३
अंक १

वार्षिक १५/- एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २५२६९, २४९५९, २४११९

## विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(१०२ वीं तालिका)

३६३१. श्री श्यामसुन्दर गुप्ता, अमलनेर, जलगाँव (महा)
३६३२. श्रीमती गीता मिश्रा, कानपुर (उ.प्र.)
३६३३. श्री रमेश देवांगन, सेलूद, दुर्ग (म.प्र)
३६३४. श्री चमन सोनी, डोंगरगढ़, राजनांदगाँव (म.प्र.)
३६३५. श्री एस. एम. चवन, खड़कवासला, पूना (महा.)
३६३६. श्रीमती राजेश्वरी अग्रवाल, इलाहाबाद (उ.प्र)
३६३७. स्वामी शंकरानंद, चिन्मय मिशन ट्रस्ट, कानपुर (उ.प्र)
३६३८. श्री आर. जे. भालेराव, टाकला, कोल्हापुर (महा.)
३६३९. श्री आत्माराम जगदीशलाल, बम्बई (महा.)
३६४०. श्री सरोज ननगिया, कलकत्ता
३६४१. सुश्री शोभा मनोत, कलकत्ता
३६४२. श्री प्रेम देवीदयाल, बम्बई (महा.)
३६४३. प्रो. श्रीमती सुशीला लढ्ढा, चित्तौड़गढ़ (राज)
३६४४. श्री मनोहर वासुदेव घाटे, बारीपुर, छिन्दवाड़ा (म.प्र.)
३६४५. श्री संतोष कुमार थवाईत, कांसाबेल, रायगढ़ (म.प्र.)
३६४६. श्रीमती सुशीला कुमारी, बिकानेर (राज.)
३६४७. श्रीमती उषा खैतान, चंडीगढ़
३६४८. श्री जे. पी. असाटी, दमोह (म.प्र)
३६४९. श्री आर. पी. पटेल, दमोह (म.प्र.)
३६५०. प्राचार्य, श्रीराम उ. मा. विद्यालय, रामपायली, बालाघाट (म.प्र.)
३६५१. श्री ओमप्रकाश खंडेलवाल, नीमच (म.प्र.)
३६५२. डॉ. चेतन जैन, दमोह (म.प्र.)
३६५३. श्री रामगुलाम दानी, रायपुर (म.प्र.)
३६५४. श्रीमती कृष्णा बन्छोर, रायपुर (म.प्र.)
३६५५. श्री प्रदीप दुबे, परपोड़ी, दुर्ग (म.प्र.)
३६५६. श्रीमती विन्देश्वरी देवी, अकलतरा, बिलासपुर (म.प्र)
३६५७. श्री रोहित सिंह ठाकुर, बेमेतरा, दुर्ग (म.प्र)
३६५८. श्री डी. आर. साहू, रायपुर (म.प्र.)
३६५९. श्री अशोक शर्मा, रायपुर (म.प्र.)
३६६०. डॉ. कमल डफल, भोपाल (म.प्र.)

# अनुक्रमणिका




कम्पोजिंग : लेजरपोर्ट कम्प्यूटर्स, शंकर नगर रायपूर

मुद्रण : संजोग आफसेट प्रा. लि., बजरंग नगर, रायपुर

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३३) जनवरी-फरवरी-मार्च ✡ १९९५ ✡ (अंक १

## सर्वग्रासी काल

सा रम्या नगरी महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च त-
त्पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्र-बिम्बाननाः ।
उद्वृत्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ।।

वह मनोहर नगरी, वह महान् सम्राट्, उसे चारों ओर से घेरे हुए सामन्तवर्ग, उसके समीप रहनेवाले विद्वान सलाहकारों की मण्डली, चन्द्रमा के समान मुखवाली वे सुन्दर स्त्रियाँ, उद्धत राजकुमारों की वह टोली, चारणों की वे प्रशंसापूर्ण उक्तियाँ – ये सभी जिसके वश में आकर मात्र स्मरण की वस्तुएँ रह गयी हैं, उस काल को हमारा नमस्कार है ।

– भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्'-४१

# विवेक-वन्दना

*'विदेह'*

(भूपाली-रूपक)

हे विवेकानन्द युग-आचार्य जन-हितकारी ।
शक्ति देकर दूर करिए तम-प्रमाद हमारी ।।
महायोगी महाध्यानी, ऋषि पुरातन सिद्ध ज्ञानी;
फिर मिटाने धर्मग्लानि, नर-कलेवर धारी ।।
राष्ट्र-गौरव को जगाने, विश्व की पीड़ा मिटाने;
प्रीति का सन्देश लेकर, पूर्व-पश्चिम चारी ।।
भरत-सन्तति उठो जागो, अलस-भय-अज्ञान त्यागो;
सिंह के सम तरुण जन को, आवाहन-उच्चारी ।।
जीव सब अव्यक्त ईश्वर, किन्तु सबमें श्रेष्ठ है नर;
दीनसेवा परम-पूजा, नव्य-धर्म प्रचारी ।।
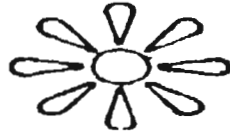
(देशकार-रूपक)

अरुणिमा छाई गगन में, रवि विवेकोदय हुआ ।
काम-कांचन का अँधेरा, गहन था अब क्षय हुआ ।।
भोगवाद प्रचण्ड निशिचर, विचरता था इस अवनि पर;
छिप रहा अब गह्वरों में, राज्य उसका लय हुआ ।।
जगत जन शंकित भ्रमित थे, विषय-विष दंशित व्यथित थे;
बिखरती प्रज्ञान किरणें, तत्त्व का निश्चय हुआ ।।
डूबते हैं चन्द्र-उडुगन, परम हर्षविभोर जन-मन;
रात बीती युग नया अब, जग सजग निर्भय हुआ ।।

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

बाल्टिमोर, अमेरिका
२२ अक्टूबर, १८९४

प्रेमास्पद,

तुम्हारा पत्र पढ़कर सब समाचार ज्ञात हुआ । लंदन से श्री अक्षयकुमार घोष का भी एक पत्र आज मिला, उससे भी अनेक बातें मालूम हुईं ।

तुम्हारे टाउनहॉल में आयोजित सभा का अभिनन्दन यहाँ के समाचार पत्रों में छप गया है । तार भेजने की आवश्यकता नहीं थी । खैर, सब काम अच्छी तरह सम्पन्न हो गया । उस अभिनन्दन का मुख्य प्रयोजन यहाँ के लिये नहीं, वरन् भारत के लिए है। अब तो तुम लोगों को अपनी शक्ति का परिचय मिल गया – Strike the iron, while it is hot (लोहा जब गरम हो, तभी घन चलाओ) । पूर्ण शक्ति के साथ कार्यक्षेत्र में उतर आओ । आलस्य के लिये कोई स्थान नहीं । ईर्ष्या तथा अहंकार हमेशा के लिये गंगाजी में विसर्जित कर दो एवं पूर्ण शक्ति के साथ कार्य में जुट जाओ। प्रभु ही तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेंगे । समस्त पृथ्वी महा-जलप्लावन से प्लावित हो जाएगी । But work, work, work (पर कार्य, कार्य, कार्य) यही तुम्हारा मूलमंत्र हो । मुझे और कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है । इस देश में कार्य की कोई सीमा नहीं है – मैं समूचे देश में अन्धाधुन्ध दौड़ता फिर रहा हूँ । जहाँ भी उनके तेज का बीज गिरेगा – वहीं फल उत्पन्न होगा । **अद्य वाब्दशतान्ते वा** – आज या आज से सौ साल बाद; सबके साथ सहानुभूति रखकर कार्य करना होगा ।

मेरठ के यज्ञेश्वर मुखोपाध्याय ने एक पत्र लिखा है । यदि तुम उनकी सहायता कर सकते हो, तो करो। जगत् का हित-साधन करना हमारा उद्देश्य है, नाम कमाना नहीं । योगेन और बाबूराम शायद अभी तक अच्छे हो गये होंगे । शायद निरंजन लंका से वापस आ गया है । उसने लंका में पाली भाषा क्यों नहीं सीखी एवं बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन क्यों नहीं किया, यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। निरर्थक भ्रमण से क्या

लाभ ? उत्सव ऐसे मनाना है, जैसा भारत में पहले कभी नहीं हुआ । अभी से उद्योग करो । इस उत्सव के दर्मियान ही लोग मदद देंगे और इस तरह जमीन मिल जायगी । हरमोहन का स्वभाव बच्चों जैसा है.... मैं तुम्हें पहले पत्र लिख चुका हूँ कि माताजी के लिये जमीन का प्रबन्ध कर यथाशीघ्र पत्र लिखना । किसी न किसी को तो कारोबारी होना चाहिये । गोपाल और सान्याल का कितना कर्जा है, लिखना । जो लोग ईश्वर के शरणागत हैं, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष उन लोगों के पैरों तले है, मा भैः मा भैः – डरो मत ! सब कुछ धीरे धीरे हो जायगा ।

मैं तुम लोगों से यही आशा करता हूँ कि बड़प्पन, दलबन्दी या ईर्ष्या को सदा के लिये त्याग दो । पृथ्वी की तरह सब कुछ सहन करने की क्षमता अर्जित करो । यदि यह कर सको, तो दुनिया अपने आप तुम्हारे चरणों में आ गिरेगी ।

उत्सव आदि में उदरपूर्ति की व्यवस्था कम करके मस्तिष्क की कोई खुराक देने की चेष्टा करना । यदि बीस हजार लोगों में से प्रत्येक चार चार आना भी दान करे, तो पाँच हजार रुपये एकत्रित हो जाएँगे । श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा उनकी शिक्षा और अन्य शास्त्रों से उपदेश देना । सदा मुझको पत्र लिखते रहना । समाचार-पत्रों की कटिंग भेजने की आवश्यकता नहीं । किमधिकमिति ।

*विवेकानन्द*

# मैत्री-भाव का तत्त्व

*स्वामी आत्मानन्द*

एक बार किसी महिला ने श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सहधर्मिणी श्री माँ सारदा से पूछा था, "माँ हमें शान्ति कैसे मिले ?" और माँ ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था, " यदि शान्ति पाना चाहती हो, बेटी; तो किसी के दोष नहीं देखना ! दोष देखना अपना । कोई पराया नहीं है, बेटी, सब अपने हैं । सबको अपना बना लेना सीखो ।"

यह मैत्री-भाव का सूत्र है । हममें अपने और पराये का भाव जन्मजात है । इसे संस्कार और चिन्तन के द्वारा बदलने की चेष्टा करनी होती है । एक घर के ही विभिन्न सदस्यों में भेद इस अपने-पराये की बुद्धि से उत्पन्न होता है और काल में पल्लवित होकर घर को ही फोड़ डालता है । एक माता जब भोजन परोसती है, तो अपने लड़के की रोटी में अधिक घी चुपड़ देती है, भतीजे या भानजे की रोटी में कम । अपने पति की दालवाली कटोरी में पत्नी अधिक घी डाल देगी, जबकि अपने देवर के लिए कम । ये उदाहरण इसलिए दिये गये कि छोटी छोटी बातें हमारी मनोवृत्ति को उजागर करती है । यह ऐसी मनोवृत्ति है, जो मैत्री-भाव की जड़ पर ही कुठाराघात करती है । इससे अपने-पराये का भाव और पुख्ता हो जाता है । यह अन्ततोगत्वा घर के टुकड़े टुकड़े कर देता है । इसकी परिणति आपसी कलह और वैमनस्य में होती है ।

जैसे यह एक घर के लिए सत्य है, वैसे ही समाज के लिए भी । हम समाज को जोड़ने का दावा तो करते हैं, पर घर को नहीं जोड़ पाते । हम एक ओर कहते हैं कि मनोवृत्ति को उदार बनाओ, पर दूसरी ओर हमीं संकीर्णता के शिकार बने रहते हैं । संस्कृत में एक सुभाषित है, जिसमें कहा गया है –

**अयं मम परो वैति गणना लघुचेतसाम् ।**
**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।**

– अर्थात "यह मेरा है, यह उसका, ऐसी बुद्धि ओछे हृदयवालों की होती है, पर जो उदारहृदय हैं, उनके लिए तो सारी वसुधा ही कुटुम्ब है ।" अब, यह बात कहने और सुनने में अच्छी तो लगती है, पर प्रश्न यह है

कि क्या हम उस पर अमल करने के लिए कभी प्रयत्नशील होते हैं ? हम तो अत्यन्त नगण्य बातों के लिए भी तू-तू मैं-मैं करते हैं, इसलिए हमारे मुँह से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाली बात शोभा नहीं देती ।

एक मजेदार घटना का स्मरण हो आता है । मेरे मित्र रेल से कहीं जा रहे थे । डिब्बे में भारी भीड़ थी । पहले तो उन्हें चढ़ने ही नहीं दिया जा रहा था, पर जब किसी तरह चढ़ गये, तो बैठने की कोई गुंजाइश नहीं दिखी । उधर एक व्यक्ति पूरी सीट पर दरी बिछाए सो रहा था । हमारे ये मित्र उस सोनेवाले के पैर हटाकर बैठ गये । फिर क्या था, महाभारत मच गया । जब थोड़ा थमा, तो सामनेवाले व्यक्ति से हमारे मित्र की चर्चा होने लगी । परस्पर परिचय दिया गया । हुआ यह कि हमारे मित्र उस सोनेवाले व्यक्ति के साढ़ू के चचेरे भाई निकले । अब क्या था, सोनेवाले व्यक्ति उठ खड़े हुए, हमारे मित्र से माफी माँगी और उन्हें अच्छी तरह से तो बिठाया ही, रास्ते भर तरह तरह की चीजें खिलाते चले ।

इस घटना के वर्णन का उद्देश्य यह है कि यदि एक अनजान व्यक्ति के प्रति ममत्व का कोई रेशा निकल आये, तो हमारा परायापन कपूर की तरह उड़ जाता है और हमारे हृदय की संकुचित भावना तिरोहित हो जाती है । यदि हम प्रयत्नपूर्वक इस ममत्व का विस्तार संसार में सबके प्रति कर सकें, तो उससे मैत्री-भाव दृढ़ होता है और आपसी कलह का शमन होता है । उसी एक ईश्वर के उपजाये होने से हममें परस्पर भ्रातृभाव होना चाहिये, यदि ऐसी मनोवृत्ति को हम चेष्टा करके अपने भीतर दृढ़मूल कर सकें तो शान्ति पाने की दिशा में हम एक सार्थक कदम धरते हैं ।

हमारे यहाँ धर्मशास्त्रों में 'निर्वैर' की बड़ी महिमा गायी गयी है । 'बैर' मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति में सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है । उसका शमन मैत्री भाव से ही हो सकता है । भगवान बुद्ध का उपदेश इस सन्दर्भ में मननीय है –

**न वेरेण वेराणी समन्तीध कुदाचन ।**
**अवेरेण दि समन्तीध एष धम्म सनत्तन ।।**

– अर्थात वैरभाव द्वारा वैरभाव दूर नहीं होता; अवैरभाव यानि मैत्रीभाव द्वारा ही वह सम्पन्न होता है – यही सनातन धर्म है ।

# श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(अड़तालीसवाँ प्रवचन)

*स्वामी भूतेशानन्द*

(स्वामी भूतेशानन्द रामकृष्ण मठ-मिशन बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं । उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ काकुड़गाछी, कलकत्ता में श्रीरामकृष्ण कथामृत पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी । उनके बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उदबोधन कार्यालय द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है । इस प्रवचन संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं । इसके हिन्दी रूपान्तकार श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं ।-सं)

इस परिच्छेद में श्रीरामकृष्ण ज्ञान और अज्ञान के सम्बन्ध में और भी विषद रूप से बोलते हैं । हम लोग साधारण बुद्धि से जिसे अज्ञान कहते हैं, श्रीरामकृष्ण उसे वैसा नहीं देखते । उनकी दृष्टि में ईश्वर को जानने का नाम ही ज्ञान और न जानने का नाम अज्ञान है ।

**अहंकार और ज्ञानलाभ**

श्रीरामकृष्ण डॉक्टर से कहते हैं, "देखो, अहंकार के बिना गये ज्ञान नहीं होता । मनुष्य मुक्त तभी होता है जब 'मैं' दूर हो जाता है । 'मैं' और 'मेरा'– यही तो अज्ञान हैं। 'तुम' और 'तुम्हारा' यही ज्ञान है। सच्चा भक्त कहता है, 'हे ईश्वर ! तुम्हीं कर्ता हो, तुम्ही सब कुछ कर रहे हो, मैं तो बस यत्र ही हूँ । मुझसे जैसा कराते हो, मैं वैसा ही करता हूँ'।"

इसके बाद श्रीरामकृष्ण अहंकार की बात कहते हैं, "जिन लोगों ने थोड़ी-सी पुस्तकें पढ़ी हैं, उनमें अहंकार समा जाता है । कालीकृष्ण ठाकुर के साथ ईश्वरी चर्चा हुई थी । उसने कहा, 'वह सब मैं जानता हूँ'।" श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि जो जानता है, वह क्या कहता फिरता है कि वह जानता है ? अर्थात तब वह चुप हो जाता है । एक तरह के लोग हैं, जो थोड़ा पढ़-लिख लेते ही अपना पाण्डित्य दिखाने के लिए व्याकुल हो जाते हैं । वे जो प्रश्न करते हैं, उसका अर्थ यह नहीं कि वे जानना चाहते हैं । उस प्रश्न के द्वारा वे अपनी बात कहने का मौका बनाते हैं । उनकी

अवस्था बोलने की होती है, सुनने की नहीं । बोलने की क्यों ? अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करने के लिए । श्रीरामकृष्ण इंगित से आघात करते हुए कहते हैं, "जो बाबू है, क्या वह कहता फिरता है कि मैं बाबू हूँ ।" दूसरे लोग कहते हैं, वह स्वयं चुप रहता है ।

इस अहंकार के ही प्रसंग में वे बताते हैं कि दक्षिणेश्वर कालीबाड़ी की एक मेहतरानी को क्या ही अहंकार था ! कारण यह कि उसके शरीर पर दो-एक गहने थे । अर्थात अहंकार करने योग्य कुछ भी नहीं है, तो भी थोड़ा-बहुत जो है, मानो केवल उसी के पास है, दूसरे किसी के पास नहीं है – यही है अहंकार । श्रीरामकृष्ण अहंकार देखते ही नाराज होते थे; कई लोगों को कहते, 'अहंकार का टीला' । 'टीला' है ऊँची जमीन, जहाँ पानी नहीं टिकता । जहाँ अहंकार है, वहाँ उपदेश काम नहीं करता । उपदेश देते समय क्षेत्र-आधार का विचार कर लेना पड़ता है । इसीलिए भगवान गीता में कहते हैं –

**इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।**
**न चाशुश्रुषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।। १८/६७**

– जिसने तपस्या नहीं की, जो अभक्त हैं, उन्हें यह तत्त्वज्ञान मत देना; जो सुनना नहीं चाहते, उसे मत कहो और जो भगवद्विद्वेषी हैं, उन्हें भी मत देना । यह क्या पक्षपात है ? ऐसी बात नहीं । विचार करके देने का कारण यह है कि उपदेश किसके जीवन में फलप्रद होगा, यह देखने की आवश्यकता है । जिसमें ग्रहण करने की आकांक्षा नहीं है, जो ऐसा अभिमानी है कि उसके अंतःकरण में और कुछ प्रवेश नहीं करेगा, उससे कहने में कोई लाभ नहीं ।

ईसामसीह कठोर भाषा में कहते हैं – 'Do not cast pearls before swines'– सूअर के सामने मोतियाँ बिखेरने से कोई लाभ नहीं है । सूअर का प्रेम विष्ठा से है, मुक्ता से नहीं । मुक्ता का मूल्य वह नहीं जानता, इसलिए वह उसे ग्रहण नहीं कर सकेगा । इसलिए शास्त्र अधिकारी देखकर तत्त्वज्ञान प्रदान करने को कहते हैं । जो दरिद्र हैं, उसे धन दो; पर जो धनी हैं उसे धन देने से क्या होगा ? जिसे रोग हुआ है, रोग का बोध भी है, उसे ही दवा देने से काम होगा । जिसे रोग नहीं है, या जो

समझता है कि मुझे कोई रोग नहीं है, उसे दवा देने से क्या लाभ होगा ? वह दवा की कीमत नहीं समझता । इसलिए शास्त्र का विधान है कि अधिकारी देखकर ही उपदेश देना चाहिए । जो अधिकारी हैं, उन्हें ही सिद्धि, उन्हें ही फल की प्राप्ति होती है ।

**शास्त्रमर्म और बोध-सामर्थ्य**

कई बार लगता है कि जिन्हें अध्यात्म-ज्ञान है, वे सबको उस ज्ञान का वितरण क्यों नहीं करते ? वस्तुतः सच्चे ज्ञानी का ज्ञान-भंडार तो सबके लिए उन्मुक्त रहता है, परन्तु लेनेवाले लोग कहाँ हैं ? लेनेवाले कोई न होने पर भण्डार खुला भी रहे तो क्या लाभ ? अपात्र को दान देने पर वस्तु का दुरुपयोग होगा, उससे अनर्थ होगा। एक ही आत्मज्ञान का उपदेश इन्द्र ने एक प्रकार से और विरोचन ने दूसरे प्रकार से समझा। विरोचन अन्य भाव से समझकर देह-सर्वस्व हो गये और इन्द्र क्रमशः आत्मज्ञान के अधिकारी हुए। इसलिए तत्त्वज्ञान देने के पूर्व अच्छी तरह से विचार करके तब दिया जाता हैं। ब्रह्मा ने इन्द्र को तत्त्वज्ञान देने के पूर्व इन्द्र को अधिकारी बना लेने के लिए उनसे दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य का पालन करा लिया था।

प्राचीन काल में ऋषियों के आश्रम में जो लोग ब्रह्मचारी के रूप में आते, गुरु पहले उन्हें अनेक प्रकार के शारीरिक परिश्रम के कार्य देते। गाय चराना, कृषि आदि कठोर परिश्रम के कार्य उनसे कराते। गुरु क्या उनसे अपने घर काम कराने के लिए उनका यंत्र की तरह उपयोग करते थे ? ऐसी बात नहीं है। उनमें शिक्षा ग्रहण करने योग्य मनोभाव उत्पन्न करने के लिए ही वे ऐसा करते थे । ग्रहण करने योग्य मानसिक तैयारी हममें नहीं है, इसलिए धर्मोपदेश से कुछ काम नहीं होता।

ईसामसीह ने उपमा दी है – एक व्यक्ति जमीन में बीज बिखेर रहा है। कितने ही बीज बाहर पड़े और उन्हे चिड़ियाँ खा गईं। कितने ही घास के उपर पड़े और जंगली पौधौं ने उन्हें मार डाला। कितने ही पत्थरों पर पड़कर सूख गये। और कितने ही बीज जुती हुई जमीन पर पड़े और वहाँ फसल हुई। तत्त्वज्ञान ग्रहण करने के मार्ग में बाधक के रूप में जो अनेक प्रकार के तत्त्व हैं, पहले उन सबको दूर करना होगा। इस तत्त्व को सुन लेने मात्र से हो गया, ऐसी बात नहीं। यह कोई इतिहास अथवा गणित

नहीं है, जो शिक्षक एक बात में कहकर समझाने। यह वस्तु इस तरह समझाई नहीं जा सकती। मन की पूर्व-तैयारी के बिना तत्त्व की बात सुनकर भी कुछ नहीं होता। शास्त्रों ने बारम्बार कहा है, कि जो शुश्रुषु नहीं हैं, विनयी नहीं हैं, सेवापरायण नहीं हैं, उससे यह ज्ञान न कहना । विनयी क्यों ? इसलिए कि विनयी होने पर उसमें ग्रहण करने की मनोवृत्ति होगी। सेवापरायण होने पर गुरुकृपा प्राप्त करने की क्षमता आएगी। अध्यात्म-तत्त्व ग्रहण करने के लिए इन सब बातों की नितान्त आवश्यकता है। साधारण शिक्षा पाने के लिए मासिक वेतन देकर शिक्षक से शिक्षाप्राप्ति हो सकती है। वहाँ सेवापरायण होना नहीं पड़ता। व्यक्तित्व गठन ही शिक्षा का उद्देश्य है, केवल कुछ जानकारियों का संचार करना मात्र नहीं। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य बनाना है। स्वामीजी कहते हैं– Man-making, character-building education – जिसके द्वारा मनुष्य बनाया जा सके, चरित्र गठन हो– ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है। केवल अशिक्षा ही नहीं, कुशिक्षा के कारण भी हम भुगत रहे हैं। आदर्श के प्रति आस्थाहीन होकर हमनें मूल्यबोध खो दिया है। साधारणतः शिक्षा का उद्देश्य हो गया है – एक नौकरी पाना या शोध आदि करके किसी नई वस्तु का आविष्कार करना। जीवनयात्रा आसान हो, भोग के साधन सुलभ हों, यदि मानो आज के जीवन का आदर्श है। फिर इसमें तो चरित्र-गठन का प्रश्न ही नहीं उठता ।

### पाप-पुण्य और भोगकर्ता

अब श्याम वसु प्रश्न करते हैं, "जब ईश्वर ही सब कर रहे हैं, तो फिर पाप का दण्ड कैसा ?" यह प्रश्न बहुतों के मन में उठता है। यदि ईश्वर ही सब कुछ कर रहे हैं, तो फिर मेरे द्वारा जो अनुचित कर्म हो रहे हैं, वे भी ईश्वर ही करा रहे हैं, तो फिर उसका दण्ड मैं क्यों भोगूँ ? जब मैं स्वतंत्र नहीं हूँ, कर्म का कर्ता नहीं हूँ, तो फिर मुझे उसका दण्ड क्यों भोगना पड़ेगा ? भगवान यदि मेरा यंत्र के रूप में उपयोग करते हैं, तब तो कर्मों के अच्छे-बुरे फल मेरे उपर न आकर, जो मेरा उपयोग कर रहे हैं, उन्हीं पर आना उचित है।

इस प्रश्न में विचार की त्रुटि है। प्रथमतः तो यदि मैं ईश्वर के द्वारा नियंत्रित होकर कर्म करता हूँ, तब तो जो कर्म करा रहे हैं, वे ही फल

भोगेंगे। किन्तु यदि मैं कर्ता नहीं हूँ, तो फिर भोक्ता कैसे हुआ ? मैंने कर्म नहीं किया, तथापि फल भोग रहा हूँ, इसमें तो व्याघात दोष है। भोग भी एक तरह का कर्म है, उसका कर्ता मैं कैसे होऊँगा ? कर्म का कर्ता न होने पर, भोग का कर्ता किस प्रकार होऊँगा ?

अतः जो कर्म करता है, वह भोग करता है। श्रीरामकृष्ण टिड्डे की पूँछ में काठी लगा हुआ देखकर कहते हैं, ''राम, तुमने स्वयं अपनी दुर्गति की है।'' जिसने यह काठी चुभाया है वह भी तुम्हीं हो और जो भोग रहा है वह भी तुम्हीं हो। जो कर्ता है, वही भोक्ता है, यही समझना होगा। तब वैषम्य दोष का प्रश्न नहीं उठता। जब बोध होता है कि भगवान हमसे कर्म करा रहे हैं और हम भोग रहे हैं, तब वैषम्य दोष उपस्थित होता है। ठाकुर की वह कहानी बड़ी सुन्दर है – ब्राह्मण द्वारा गोहत्या की कहानी – लीलाप्रसंग में बड़े विस्तृत रूप में वर्णित है। इन्द्र से प्रशंसा सुनकर ब्राह्मण गदगद होकर कहते हैं, "यह सब मैंने किया है।" अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न न हो, ऐसे लोग दुनिया में विरल हैं। चूँकि मैंने किया है, इसलिए प्रशंसा मेरा प्राप्य है। उपनिषद में एक कहानी है – देवताओं ने असुरों को जीत लिया, इसलिए उनको थोड़ा अहंकार हो गया है। ब्रह्म सर्वान्तर्यामी हैं। उन्होंने देवताओं का अभिमान चूर किया। देवता समझ गये कि ब्रह्म की शक्ति से ही उन्होंने विजय प्राप्त की है।

इसी तरह जब हम उन्हें सभी विषयों के कर्ता समझें, तब हममें अभिमान नहीं आ सकेगा। अतः दुःख भोग रहे हैं, ऐसी शिकायत भी नहीं आ सकेगी। मैं एक सामान्य यन्त्र मात्र हूँ, मुझमें भोक्तृत्व भी नहीं है, कर्तृत्व भी नहीं है। जिसने अपने को अकर्ता जान लिया है, उसने अपने को अभोक्ता भी जान लिया है। जब हम कहते हैं कि मैं कर्म नहीं करता फिर भी भोग करता हूँ – तब थोड़ा-सा दायित्व अपने उपर ले लेता हूँ और थोड़ा-सा भार उनके उपर छोड़ देता हूँ। यह आधा आधा बँटवारा नहीं चलता। श्रीरामकृष्ण इतने अधिक ऊहापोह में नहीं गये। उनकी बातों से लगता है कि उन्हें बड़ी नाराजगी का बोध हो रहा है। कहते हैं, "तुम्हारी तो सुनार की सी बुद्धि है!" इस बात से किसी के मन को आघात न लगे, इसलिए नरेन्द्रनाथ उसकी व्याख्या कर दे रहे हैं – सुनार की बुद्धि अर्थात Calculating (हिसाबी) बुद्धि।

### मुख्तारे-आम देना

श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि इतने फालतू विचार करने से क्या लाभ ? कहते हैं, "इतने सब हिसाब से तुम्हें क्या मतलब ? तुम आम खाने आये हो, आम खा जाओ। तुम्हें इस संसार में ईश्वर प्राप्ति की साधना करने के लिये मनुष्य जन्म मिला है। ईश्वर में किस तरह भक्ति हो उसी के लिये प्रयास करो। तुम्हें इन सब व्यर्थ बातों से क्या मतलब ? ...आधा पाव शराब से ही तुम्हें नशा होता है, फिर शराबवाले की दुकान में कितने मन शराब है, इसका हिसाब लगाकर क्या करोगे ?" अभिप्राय यह है कि तुम्हारे लिये जितना आवश्यक है, उतना लेकर उसमें डूब जाओ। साधना के लिए दुर्लभ मानव जन्म पाकर कैसे भक्ति हो, शरणागति हो, इसी के लिए चेष्टा करना उचित है। श्रद्धा, भक्ति, शरणागति का भाव न रहने पर इसी तरह के विचार आते हैं। हम लोग अपने विचार का मानदण्ड लेकर, उन्हें तौलकर उनके दोष-त्रुटि का विचार करते हैं; मानो हम उस विचार के कर्ता हैं। हम अपनी इस अकिंचनता को न जानकर ही भगवान का विचार करने जाते हैं। इसीलिए श्रीरामकृष्ण विशेष रूप से कहते हैं कि अधिक जानने की आवश्यकता नहीं। थोड़ी-सी बुद्धि रहने से ही तुम उनका भजन कर सकते हो।

विचार की ओर गये बिना ही वे कहते हैं, "ईश्वर को आम मुख्तारी क्यों नहीं देते ? उन पर सारा भार छोड़ दो।" अच्छे आदमी को अगर कोई अपना भार दे दे, तो क्या वह कभी अन्याय कर सकता है ? पाप का दण्ड देंगे या नहीं, यह वे जाने। अपने जीवन को सार्थक करना ही हमारा कर्तव्य है।

विकार के फलस्वरूप मनुष्य जो भ्रान्त निष्कर्ष पर पहुँच जाता है, इस विषय में कहते हैं, "तुम कलकत्ते वाले बस यही एक राग अलापते हो। तुम लोग यही कहा करते हो न कि ईश्वर में पक्षपात है, क्योंकि एक को उन्होंने सुख में रखा है और दूसरे को दुःख में। ये मूर्ख खुद जैसे हैं, वैसा ही ईश्वर के भीतर भी देखते हैं।" वस्तुतः ईश्वर को हम लोग अपनी प्रतिकृति रूप में ही देखते हैं, अपने चरित्र के अनुसार ही उनकी कल्पना करते हैं। बाइबिल में है – 'God made man after His own image.' –

अर्थात भगवान ने मनुष्य को अपनी प्रतिकृति के रूप में बनाया है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – 'Man made God after his own image' – अर्थात मनुष्य अपनी प्रतिकृति के अनुरूप भगवान की कल्पना की है। हम ऐश्वर्य चाहते हैं, इसलिए उन्हें ऐश्वर्यशाली कहते हैं और आशा करते हैं कि वे हमें ऐश्वर्य देंगे। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "यह (गले का) रोग होने से क्या लाभ हुआ जानते हो ? इस रोग को देखकर बहुत से लोग भाग जाएँगे।" क्यों ? यह सोचकर कि वे तो खुद ही रोग से भुगत रहे हैं, हमारा क्या अच्छा कर सकेंगे ?

### नचिकेता की तत्त्वजिज्ञासा

यमराज जब नचिकेता को लोभ दिखा रहे थे, तब नचिकेता ने कहा, "मैं आत्मज्ञान चाहता हूँ। मृत्यु के बाद क्या जीव रहता है ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है।" इस पर यम ने कहा - **'स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि'** ( कठ. १/१/२३) – "तुम जब तक जीवन धारण करना चाहो, धन-ऐश्वर्य लेकर सुखपूर्वक भोग करो, किन्तु, **'मरणं माऽनुप्राक्षीः** (१/१/२५) – मृत्यु के बाद क्या होता है, ऐसा प्रश्न मत करो। देवताओं को भी इस विषय में सन्देह रहता है, **'देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा'** (१/१/२१) – तुम मनुष्य हो, भला क्या जानोगे ? तुम बालक हो, वह सब दार्शनिक तत्त्व जानने की इच्छा मत करो।"

बालक नचिकेता तीक्ष्ण बुद्धि-सम्पन्न थे। उन्होंने कहा, "जो अनेक लोग नहीं जानते एवं कहते हैं कि आप ही दे सकते हैं, मुझे वही दीजिए। ऐश्वर्य आदि आपके पास ही रहे, मुझे उनकी आवश्यकता नहीं।"

मनुष्य ऐश्वर्य पाने के लोभ में ईश्वर की आराधना करता है। जहाँ वह नहीं है, वहाँ भक्ति नहीं होती। शास्त्र मानो इसीलिए हमें आकृष्ट करने के लिये कहते हैं कि हम ऐसे भगवान की बात बताएँगे, जो तुम्हें दोनों लोकों में सुखपूर्वक रखेंगे। पार्थिव ऐश्वर्य भी पाओगे और मुक्ति चाहने पर, वह भी पाओगे।

### श्रीकृष्ण और सुदामा

भक्तों में भी पार्थिव वस्तु की चाह बिल्कुल न रही हो, ऐसी बात नहीं है। भक्त सुदामा श्रीकृष्ण के सखा थे। सुदामा की पत्नी ने केवल इतना

कहा कि हमारे घर में इतना अभाव है और तुम्हारे मित्र तो राजा हैं, उनसे कुछ माँग लाओ न ! सुदामा द्विविधा में पड़े। एक दिन सुदामा अपने मित्र श्रीकृष्ण से मिलने गये। श्रीकृष्ण ने बड़े आदर के साथ उनका स्वागत किया, सुदामा भावविभोर हो उठे। भगवान की चतुराई का अन्त नहीं है। पूछा, "मित्र, मेरे लिए क्या लाए हो ?" सुदामा की पत्नी ने कुछ कनी के लड्डू दिये थे, लेकिन सुदामा उसे प्रत्यक्ष रूप से देने में संकोच कर रहे थे। श्रीकृष्ण ने उसे खोज निकाला और बड़े प्रेम से खाने लगे। सुदामा की आँखों से अश्रु की धारा बहने लगी। प्रभु के सत्कार से तृप्त होकर लौटते हुए वे सोचते हैं – जो माँगने के लिए आया था सो तो बोलना हुआ नहीं। मैं तो अत्यन्त दीन-दरिद्र हूँ, सामान्य-सी वस्तु लाया था, उन्होंने कितने आग्रहपूर्वक ग्रहण किया – यही सोचकर सुदामा आनन्दित हो रहे हैं। उसके बाद की घटना, जैसा कि पुराणों में सर्वत्र होता है – सुदामा की दुख-दुर्दशा सब दूर हुई। लौटकर वे अपनी पर्णकुटी को खोजते हैं पर वहाँ तो प्रासाद खड़ा था, पत्नी आदरपूर्वक उनका स्वागत करके भीतर ले गई। सुदामा आश्चर्यचकित हैं, "यह किसका भवन है !" उनकी पत्नी बोली, "तुम्हारे सखा ने ही यह सब किया है।"

### भक्त और मानव-जन्म

अभिप्राय यह है कि आवश्यकता होने पर वे यह सब भी देते हैं । किन्तु इन सब के लोभ में उनसे सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिए। जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहते थे, "राजा से लौकी-कुम्हड़ा माँगना।" जिसे पा लेने पर और कुछ माँगना न पड़े, वही माँगना उचित है।

एक ब्राह्मण स्वप्न में शिवजी से इंगित पाकर अपनी दरिद्रता दूर करने की आशा में सनातन गोस्वामी के पास गये। सनातन बोले, "इस रेत में पारसमणि है, उसे ले जाओ, तुम्हारा अभाव दूर हो जायगा।" रेत को खोदकर उसे पारसमणि मिल गया। रवीन्द्रनाथ की कविता में है – "उससे छुलाते ही लोहे के दो ताबीज सोने के हो गये।" कविता बड़ी सुन्दर है । अन्त में ब्राह्मण कहते हैं – "जिस धन से धनी होकर व्यक्ति मणि को मणि नहीं समझता, उसी धन का थोड़ा-सा मैं विनयपूर्वक माँगता हूँ – यह कहकर उन्होंने मणि को नदी के जल में फेंक दिया।" इस धन की मुझे आवश्यकता नहीं – यही भक्त की बात है। ध्रुव के समान भले ही

कोई सकाम भाव से उनके पास जाय, तो भी उनका ऐसा दिव्य प्रभाव है कि कामना दूर हो जाती है। दिव्यज्ञान का स्फुरण होता है और तब भक्त उन्हें ही चाहता है।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "भगवान के गुण-दोष पर विचार न करके, वही करो जिससे तुम्हारा जीवन धन्य हो।" जिस बुद्धि के द्वारा विचार होगा, वे उस बुद्धि की सीमा से परे हैं। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "हेम दक्षिणेश्वर जाया करता था। भेंट होने पर ही मुझसे कहता, 'क्यों भट्टाचार्य महाशय, संसार में एक ही वस्तु है – मान – क्यों ? ईश्वर की प्राप्ति ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है, यह बात कम ही लोग कहते हैं।"

हम लोग मुख से जो कहते हैं कि ईश्वर-लाभ ही जीवन का उद्देश्य है, वह कितने आन्तरिक विश्वास के साथ कहते हैं, यह विचारणीय बात है। वे ही यदि जीवन के एकमात्र उद्देश्य हों, तो क्या सम्पूर्ण जीवन की धारा नहीं बदल जाएगी ? जिस मान-यश-भोग-ऐश्वर्य के लिये हम प्राण दे रहे हैं, वह सब क्या कूड़ा-करकट नहीं लगेगा ? श्रीरामकृष्ण कहते हैं – हृदय के द्वारा समझो कि जीवन का उद्देश्य क्या है ? मानव जीवन दुर्लभ है, इसमें हमें भगवान की प्राप्ति तक हो सकती है।

शास्त्र हमें सावधान करते हैं –

**दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम् ।**
**मनुष्यत्व मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रय : ।** (विवेक चूड़ामणि, ३)

– ईश्वर के अनुग्रह बिना ये तीन दुर्लभ वस्तुएँ नहीं मिलतस। पहला तो मानवजन्म, फिर उसमें मुक्ति की आकांक्षा और उसके बाद भी महापुरुष का आश्रयलाभ। ये तीन वस्तुएँ जीवन में मिलने पर वह सार्थक होता है। अत: जो सुअवसर हमें इस जीवन में मिला है, वह पता नहीं फिर कब आए। इसका पूर्ण सदुपयोग करने की तीव्र व्याकुलता यदि हमारे मन में न जागे, यदि हम सदा सावधान न रहें, सम्पूर्ण जीवन को नियंत्रित करने की आप्राण चेष्टा न करें, तो फिर मनुष्य होकर जन्म लेने की कोई सार्थकता नहीं है – यही बात श्रीरामकृष्ण कहते हैं। भगवान को पाना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है।

# परशुराम चरित

**स्वामी प्रेमेशानन्द**

**(श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में अनेक अवतारों पर चर्चा हुई है । इनमें से मत्स्य, कुर्म, वराह आदि के चरित पौराणिक है और परशुराम, बुद्ध आदि के व्यक्तित्व ऐतिहासिक हैं, जिनके जीवन से हमें हिन्दू समाज के उत्थान-पतन विषयक स्पष्ट संकेत भी मिलते हैं । तथापि इन महान कथाओं के अनुशीलन से प्राप्त होने वाली शिक्षाएँ तथा आनन्द, इनकी ऐतिहासिकता पर निर्भर नहीं करतीं रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी ब्रह्मलीन स्वामी प्रेमेशानन्दजी ने अपनी सुललित बँगला भाषा में इन्हें पुनः लिखकर प्रकाशित कराया था, उसी 'दशावतार-चरित' नामक पुस्तक से हम इनका अनुवाद क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं।-सं.)**

**क्षत्रिय रुधिरमये जगदपगत पापं**
**स्नपयसि पयसि शमित-भवतापम् ।**
**केशव धृत-भृगुपतिरूप**
**जय जगदीश हरे ।।**

– १ –

समस्त जीव आत्मरक्षा के लिए कार्य करते हैं। मनुष्य कार्य भी करता है और विचार भी करता है। विचार के द्वारा मनुष्य अपनी उन्नति के विभिन्न उपाय ढूँढ निकालता है।

प्रारम्भ में सभी मनुष्य एक ही वर्ण के थे। क्रमशः मनुष्य के चिन्तन में विस्तार होने से उसके कार्यों में भी वृद्धि हुई। मनुष्यों के एक वर्ग को समाज के मंगल हेतु केवल चिन्तन का ही कार्य लेकर रहना पड़ा; वे लोग ब्राह्मण हुए। बाकी कार्यों का भार दो अन्य वर्गों ने उठा लिया। इनमें एक वर्ग खूब तेजस्वी तथा बुद्धिमान था; वे लोग समाज के हितरक्षक तथा दुष्ट लोगों के शासक क्षत्रिय हुए। एक अन्य वर्ग उतना बुद्धिमान न होने पर भी खूब कर्मकुशल था; वे लोग समाज के धनवर्धक वैश्य हुए। स्थूलबुद्धि तथा हीन-स्वभाव लोगों ने परिश्रम का भार लिया और समाजसेवक शुद्र हुए। इस प्रकार एक ही मानवजाति चार वर्णों में विभक्त हो गई।

ब्राह्मण हुए समाज के मस्तिष्क, जो समाज के मंगल के उपाय सोचते हैं। क्षत्रिय हुए बाहु और वे उन उपायों के आधार पर समाज की उन्नति करते हैं। मस्तिष्क की जितनी आवश्यकता है, बाहुओं की भी उतनी ही

आवश्यकता है। दोनों के सम्मिलित भाव से कार्य किये बिना समाज का कल्याण नहीं होता।

परन्तु वर्ग बनते ही विवाद भी सहज रूप से आ जाता है। ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के बीच प्राय: विभिन्न विषयों पर विवाद खड़ा हो जाता था। बीच बीच में उनमें युद्ध तक हो जाता। सम्भव है ब्राह्मणों ने साधना-तपस्या के द्वारा समाज के उपकार का कोई उपाय ढूँढा, परन्तु क्षत्रियों ने उसे नहीं माना, स्वीकार नहीं किया। यथा, ब्राह्मण ने कहा कि क्षत्रिय बालक को बाल्यकाल में ब्राह्मण के पास वेदाध्ययन करना होगा, कठोरता-पूर्वक ब्रह्मचर्य पालन करना होगा और सम्भव है क्षत्रिय ने सोचा, "हाँ, वेदाध्ययन तो अवश्य करना चाहिए, परन्तु इतनी कठोरता एवं ब्राह्मण का शिष्यत्व आवश्यक नहीं। राजा का लड़का इतना सब करने क्यों जाएगा ?" ब्राह्मण ने देखा कि जिनके हाथों में राज्य के शासन का भार होगा, वे भोगासक्त अविनयी तथा गुरुसेवाहीन हो जायँ, तो इसमें समाज का मंगल नहीं है। अत: विवाद शुरू हुआ और एक वर्ग के युद्ध में पराजित होकर दूसरे वर्ग की अधीनता स्वीकार न करने तक युद्ध जारी रहा।

इसी प्रकार एक बार क्षत्रियगण अपने ऐश्वर्य के गौरव से बड़े अहंकारी हो उठे थे। देश का सारा धन और सभी मनुष्य उनके अधीन थे। ऐसी स्थिति में उनके लिए धर्म के नियम तथा ब्राह्मणों के आदेश मानकर चलना असह्य हो उठा। वे लोग धर्म की नीतियों तथा धर्माचार्यों की अवज्ञा करने लगे।

— २ —

प्राचीन भारत में भृगुवंशी ब्राह्मण अत्यन्त प्रभावशाली थे। इस वंश में अनेक तेजस्वी योगी पुरुषों ने जन्म ग्रहण किया। भृगु के पुत्र महर्षि ऋचिक न केवल विद्वान और तपस्वी थे; वे युद्धविद्या में भी पारंगत थे। गाधि राजा की पुत्री महर्षि विश्वामित्र की बहन सत्यवती के साथ उन्होंने विवाह किया। सत्यवती भी उन्हीं के समान तपस्विनी एवं भक्तिमती थीं।

महर्षि ऋचिक ने धर्म के अध:पतन एवं अधर्म के उत्थान से व्यथित होकर जगत के कल्याण हेतु बड़ी तपस्या की। आदर्श ब्राह्मण तथा आदर्श क्षत्रिय की सम्मिलित शक्ति के बिना मानवजाति का कल्याण असम्भव

जानकर उन्होंने एक महायज्ञ किया। उन्होंने यज्ञ के लिए दो चरु बनाए। यज्ञ में काम आनेवाले खीर को चरु कहते हैं। उनमें से एक था अपनी सास के लिए क्षात्रतेजोमय चरु और दूसरा अपनी पत्नी के लिए ब्रह्मतेजोमय चरु। चरु पाकर गाधिपत्नी ने सोचा कि दामाद ने अवश्य ही अपनी पत्नी के लिए उत्कृष्ट चरु बनाया होगा। अतः उन्होंने अपनी पुत्री के समक्ष चरु बदलने की अभिलाषा व्यक्त की, जिसे सरलहृदय सत्यवती ने तुरन्त स्वीकार कर लिया। दोनों ने बदला हुआ चरु यथाविधि खा लिया।

महर्षि ऋचिक यह बात सुनकर बड़े नाराज हुए और पति के आदेश की अवहेलना के लिए सत्यवती को खरी-खोटी सुनाने के बाद उन्होंने दोनों चरुओं का भेद समझा दिया। यह सुनकर कि शान्त ब्राह्मण कुल में क्षत्रिय बालक जन्म लेगा, सत्यवती को बड़ा भय हुआ और चरु-भक्षण के फल का खण्डन करने के लिए वे ऋचिक से बड़ा अनुनय-विनय करने लगीं। ऋचिक ने अपने तपोबल के द्वारा उस क्षत्रिय-शक्ति को अपने पुत्र से पौत्र में परिवर्तित कर दिया।

ऋचिक के पुत्र जमदग्नि ने अपने पिता से शिक्षा पाकर शास्त्र, तपस्या तथा धनुर्विद्या में असाधारण योग्यता प्राप्त की और रेणुका नाम की एक गुणवती कन्या के साथ विवाह कर आदर्श गृहस्थ का जीवन बिताने लगे। उनके पाँच पुत्र हुए, जिनमें सबसे छोटे का नाम राम था।

राम में बाल्यकाल से ही असाधारण क्षात्रतेज दीख पड़ा। शास्त्रपाठ तथा तपस्या से उन्हें अरुचि न थी, परन्तु धनुर्विद्या से उनका विशेष लगाव था। कहीं भी अन्याय दृष्टिगोचर होने पर वे अपने बल से तत्काल उसका प्रतिकार करते; व्यायाम, क्रीड़ा तथा शिकार में सदा उन्मत्त रहते। शिक्षा समाप्त हो जाने पर उन्होंने कठोर तपस्या के द्वारा महादेव को प्रसन्न किया। महादेव ने उन्हें दो वर प्रदान किए – एक तो इच्छामृत्यु अर्थात् अपनी इच्छा न हो तो रोग, अस्त्राघात अथवा बुढ़ापे से उनकी मृत्यु नहीं होगी; और दूसरे वर के रूप में उन्हें एक परशु या कुठार मिला, जिसके हाथ में रहने पर कोई उनसे युद्ध में जीत नहीं सकता था। इस परशु की सहायता से उन्होंने सौ बार क्षत्रियकुल पर विजय प्राप्त की थी, इसीलिए उनका नाम परशुराम हो गया।

एक दिन जमदग्नि किसी कारणवश रेणुका पर इतने क्रोधित हो गए कि उन्होंने अपने पुत्रों को बुलाकर रेणुका का सिर काट डालने का आदेश दिया। राम उस समय आश्रम में नहीं थे। पुत्रगण पिता के इस भयानक आदेश का पालन न कर सके और पितृ-शाप के भय से बेहोश होकर धरती पर गिर पड़े। उसी समय राम ने घर लौटकर देखा कि पिता क्रोध से आग के समान जल रहे हैं और भ्रातागण भय से मूर्च्छित हैं। उन्हें देखकर जमदग्नि ने मातृवध का आदेश दिया। राम ने तत्काल पिता की आज्ञा का पालन किया। जमदग्नि के प्रसन्न होकर चार वर देने की इच्छा व्यक्त करने पर राम ने माँगा –

(१) उनकी माता पुनर्जीवित होकर हत्या की बात भूल जायँ।

(२) भ्रातागण होश में आकर सब भूल जायँ।

(३) युद्ध में कोई भी उन पर विजय न पा सके।

(४) वे दीर्घजीवी हों।

– ३ –

हैहय नाम के एक प्रबल प्रतापी क्षत्रिय वीर ने नर्मदा नदी के किनारे अपने नाम पर एक राज्य स्थापित किया। सुप्रसिद्ध माहिष्मती नगरी उसकी राजधानी थी। हैहयवंश के ही कीर्तिवीर्य के पुत्र अर्जुन ने काफी तपस्या करके योगप्रभाव से एक हजार लोगों की शक्ति अर्जित की थी, इस कारण उन्हें सहस्रबाहु और कीर्तिवीर्य के पुत्र होने के कारण कार्तवीर्य-अर्जुन कहा जाता था। एक बार विश्वश्रवा मुनि का पुत्र रावण दिग्विजय करने बाहर निकला और युद्ध करते करते नर्मदा नदी के तट पर पहुँचकर उसने हैहयराज्य में शिविर लगाया। अर्जुन के सैकड़ों पत्नियाँ थीं। वे अपनी पत्नियों के साथ नर्मदा में क्रीड़ा किया करते थे। पुराण में लिखा है कि एक बार अर्जुन ने अपने सहस्र बाहुओं के द्वारा नर्मदा का प्रवाह रोक दिया। रावण नदी के तट पर बैठा पूजा-पाठ कर रहा था। नदी में बाढ़ आ आने से रावण के पूजा के उपकरण बह गये। इस बात पर दोनों के बीच युद्ध ठन गया। काफी लड़ाई के बाद रावण पराजित और बन्दी हुआ। विश्वश्रवा मुनि यह समाचार पाकर स्वयं ही कार्तवीर्य के पास उपस्थित हुए और बड़ा अनुनय-विनय करके उन्होंने अपने पुत्र रावण

को छुड़ाया।

वैसे हमारा विश्वास है कि रावण का जन्म काफी काल बाद हुआ था और एक व्यक्ति के हजार हाथ होना भी सम्भव नहीं है। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि कार्तवीर्य-अर्जुन एक महान वीर थे।

एक बार अर्जुन शिकार के निमित्त भ्रमण करते हुए अपनी सेना के साथ जमदग्नि के तपोवन में अतिथि हुए। जमदग्नि ने अत्यन्त आदर के साथ अर्जुन का स्वागत किया। वे एक महायोगी थे और उनके लिए कुछ भी असाध्य न था; एक निर्धन ब्राह्मण होकर भी उन्होंने अपने योगबल से राजा को हर प्रकार के खाद्य आदि के द्वारा सन्तुष्ट किया। परन्तु अहंकारी, लोभी, असुरस्वभाव अर्जुन कृतज्ञ होना तो दूर, ईर्ष्या से ही दग्ध हो उठा। मुनि के पास एक कामधेनु गाय थी। राजा के द्वारा उस गाय को माँगने पर मुनि ने कहा, " मैं एक निर्धन ब्राह्मण हूँ। याग-यज्ञ के लिए घी-दूध की आवश्यकता पड़ती है और बहुत सी गायें पालना मेरे लिए सम्भव नहीं है। इस एक गाय से ही मेरा काम चल जाता है, अतः मैं इस गाय को न दे सकूँगा।" "इस निर्धन ब्राह्मण में इतना दुस्साहस ! मैंने एक छोटी-सी चीज माँगी और इसने मुख पर इन्कार कर दिया! लोगों ने ब्राह्मणों को मान-सम्मान देकर सिर पर चढ़ा लिया है। मैं राजा हूँ, तो भी इसे मेरा आदेश अमान्य करते भय नहीं लगता।" यह सोचकर अर्जुन बलपूर्वक गाय को ले जाने का प्रयास करने लगे। परन्तु योगबल के ऊपर दूसरा कोई बल नहीं चलता। राजा गाय का हरण करने में असमर्थ रहे और अपने राज्य को लौट गए।

प्रतिहिंसा की अग्नि से राजा का हृदय जलता रहा। उन्होंने एक बहुत बड़ी सेना लेकर ऋषि के आश्रम पर आक्रमण किया। ऋषि उस समय समाधिमग्न थे। उनका सिर काटने के बाद राजा कामधेनु को लेकर चले गए।

राम उस समय किसी कार्यवश आश्रम के बाहर गये हुए थे। उन्होंने लौटकर देखा कि तपोवन तहस-नहस हो चुका है, आश्रमवासियों के रक्त से जमीन रँग गई है और महर्षि जमदग्नि योगासन में मृत पड़े हैं। क्या ही भयानक दृश्य था ! धर्म की कैसी दुरवस्था हो चुकी थी ! गाय के लोभ में

ऋषिवध ! ब्रह्मवध ! धर्मरक्षक क्षत्रिय के लिए यह कार्य कितना बड़ा अन्याय था, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता था। पिता का मृतदेह पड़ा था, परन्तु श्राद्ध-तर्पण की तो बात ही नहीं उठती थी। पहले इस पृथ्वी के भार, मानवता के शत्रु का संहार किये बिना अन्य कुछ सोचा भी नहीं जा सकता था। हाथ में कुठार लिए प्रतिहिंसा की मूर्ति बने, राम माहिष्मती नगरी को ओर दौड़ पड़े। जब एक बार कर्तव्य निश्चित हो जाता है, तब मनुष्य के मन में सम्भव-असम्भव का प्रश्न ही नहीं उठता। एक ब्राह्मणपुत्र हाथ में एक कुठार लिए अकेले ही महावीर अर्जुन के हजारों सैनिकों द्वारा रक्षित माहिष्मती नगरी पर आक्रमण करने चल पड़ा।

नगर में प्रवेश करके राम ने उन्मत्त के समान लोगों को काटना शुरू किया। नागरिकगण भय के मारे इधर-उधर भागने लगे। कुठार के आघात से सिंहद्वार को तोड़ने के बाद राम ने राजपुरी में प्रवेश किया। सैनिकों के अस्त्राघात से उनका सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया था, परन्तु कोई भी उन्हें रोक नहीं सका। सम्पूर्ण राजधानी को रक्त से प्लावित करते हुए उन्होंने अर्जुन पर आक्रमण किया और अपने अजेय कुठाराघात से उनका वध करके अपने आश्रम में लौट आए।

– ४ –

जमदग्नि एवं अर्जुन के वध की कहानी लोगों के मुख से अतिरंजित होते हुए सारे भारत में फैल गई। एक गाय के लिए इतने बड़े तपस्वी ऋषि की हत्या पर ब्राह्मण तथा उनके पक्षधर अत्यन्त क्रोधित हुए। और दूसरी ओर एक सामान्य ब्राह्मणपुत्र ने अपने कुठार से इतने बड़े व विख्यात राजा वीर अर्जुन का वध कर डाला, यह समाचार क्षत्रियों के लिए असह्य हो उठा। पूरे देश में यही एक चर्चा चलने लगी। क्षत्रियगण राम को दण्डित करने का विपुल आयोजन करने लगे। तपस्वी ब्राह्मण जगत के मंगल हेतु भगवान को पुकारने लगे। पुरोहित ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के संहार के निमित्त रुद्र-यज्ञ आरम्भ किया। रजोगुणी ब्राह्मणों ने अस्त्र उठाकर राम के सेनापतित्व में विप्रसेना का गठन किया।

दोनों पक्षों के बीच घोर लड़ाई छिड़ गई। राम की अद्भुत वीरता के सामने क्षत्रियगण टिक न सके और बारम्बार पराजित होने लगे। राम

अपना कुठार हाथ में लिए शत्रुसेना में घुस गए और उन्हें गाजर-मूली की भाँति काटने लगे। अधिकांश वीर क्षत्रियों के हताहत हो जाने के बाद युद्ध थमा। परशुराम के नेतृत्व में ब्राह्मणगण सम्पूर्ण देश में धर्मस्थापना की व्यवस्था करने लगे।

कुछ वर्ष शान्तिपूर्वक बीते। परन्तु पराजित क्षत्रियगण चुपचाप नहीं बैठ सके। बदला लेने की भावना से वे धीरे धीरे अपनी सेना का गठन करने लगे, देखते-ही-देखते क्षत्रियकुल के बालक भी युवावस्था को प्राप्त हुए। उन्होंने पुनः ब्राह्मणों पर आक्रमण किया। भयानक रक्तपात एवं नरसंहार हुआ। क्षत्रियगण पुनः पराजित और हताहत हुए।

और भी कुछ वर्ष शान्तिपूर्वक बीते। ब्राह्मणों ने सोचा था कि अब क्षत्रियगण सिर नहीं उठा सकेंगे। परन्तु महातेजस्वी क्षत्रियगण प्रतिशोध लेने के प्रयास में लगे रहे। उनकी सेना एकत्र हो जाने पर पुनः युद्ध हुआ। ब्राह्मण-क्षत्रियों के मिलित रक्त की धाराएँ बह चलीं, मृतदेहों से धरती पट गई। इस प्रकार कुल इक्कीस युद्ध हुए। द्वेषभाव बढ़ते हुए क्रमशः घोर निष्ठुरता में परिणत हुआ, न्याय-अन्याय का बोध न रहा; जिससे जैसे भी बन पड़ा शत्रु-संहार की चेष्टा करता रहा।

युद्ध करते करते राम अत्यन्त क्रोधित हो उठे। क्रुद्ध होकर उन्होंने युद्ध में पराजित क्षत्रियों को पकड़कर बन्दी बना लिया; कुरुक्षेत्र के निकट स्थित समस्त-पंचक में उन्होंने पाँच गढ्ढे खोदे और बन्दी क्षत्रियों का सिर काटकर उनके रक्त से उन्होंने उन गढ्ढों को भर दिया। उन्हीं गढ्ढों में पितृतर्पण कर उन्होंने अपनी पिता की हत्या का प्रतिशोध लिया। क्षत्रियकुल के बच्चों तक को कुठाराघात से हत्या करके उन्होंने क्षत्रियवंश को निर्मूल कर दिया; यहाँ तक कि गर्भवती नारियों के उदर चीरकर भी पुरुष भ्रूण मिलने पर उन्होंने उसे कुठाराघात से खण्डित कर दिया।

सम्पूर्ण भारत राम के भय से सन्त्रस्त हो उठा। कोई बड़ा साहसी हो तो भी उनके सम्मुख खड़े होने में असमर्थ हो जाता था। लोगों ने उनके बारे में कितनी ही अलौकिक घटनाओं की कल्पना कर ली। उनके आने की सूचना पाकर लोग प्राण के भय से छिप जाते। उनका नाम ही आतंक का एक पर्याय हो गया, किसी के सहसा 'परशुराम' शब्द का उच्चारण कर

देने मात्र से ही लोग सहम जाते।

अनवरत युद्ध के कारण देश से धर्मनीति उठ गई। ऋषिगण अब शान्त न बैठे सके; उन्होंने राम से हिंसा त्याग देने का अनुरोध किया। और हिंसा करने को कोई बचा भी नहीं था; क्षत्रियवंश तो पहले ही निर्मूल हो चुका था। राम समझ गए कि अब उनका कर्तव्य पूरा हो चुका है, जीवन का उद्देश्य सिद्ध हो चुका है। अब उनमें ब्राह्मण-भाव जाग उठा। उनका एकमुखी मन हिंसा के आवेश में हजारों ओर दौड़कर उन्हें पीड़ित कर रहा था – वे ब्राह्मण का शान्त संयमित मन पाने को व्याकुल हुए। ऋषियों के हाथ में पृथ्वी-शासन का भार सौंपकर उन्होंने भारतवर्ष का पूरी तौर से परित्याग किया और हिन्द महासागर के महेन्द्र पर्वत नामक एक द्वीप में जाकर कठोर तपस्या में लग गए।

तब ब्राह्मणों ने धर्म के अनुसार देश के शासन की व्यवस्था की। कुछ क्षत्रिय-नारियाँ गर्भरक्षा के लिए राम के भय से पहाड़ों-जंगलों में छिपी हुई थीं। ब्राह्मणों ने काफी प्रयास करके उन्हें ढूँढ़ निकाला, उनसे उत्पन्न पुत्रों का यत्नपूर्वक पालन कर उपयुक्त धर्मशिक्षा प्रदान की और बड़े होने पर राज्यशासन का भार उनके हाथों में सौंप दिया। इसके फलस्वरूप क्षत्रियगण ब्राह्मणों के अनुगत हो गए और उन लोगों द्वारा प्रचारित धर्म के नियम मानकर चलने लगे। देश में धर्म व शान्ति की पुनः स्थापना हुई। ब्राह्मण और क्षत्रिय का विवाद सदा-सर्वदा के लिए मिट गया।

**(आगामी अंक में श्रीराम चरित)**
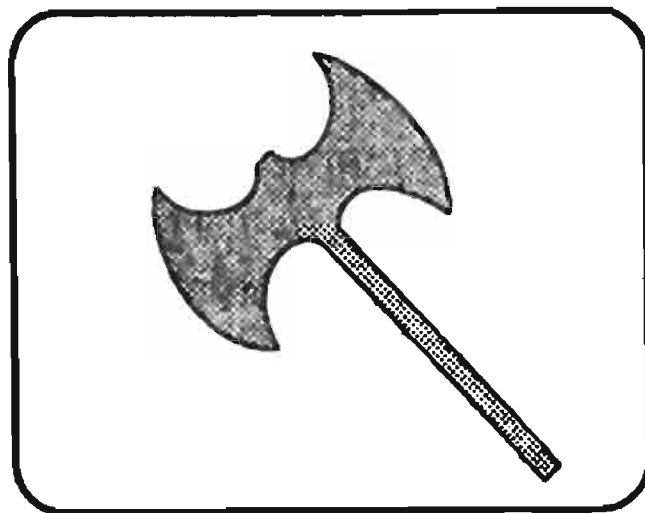
# मानस-रोग (२२/१)

*पण्डित रामकिंकर उपाध्याय*

. (हमारे आश्रम में आयोजित विवेकानन्द जयंती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलिखन उनके बाईसवें प्रवचन का पूर्वार्द्ध है । टेपबद्ध प्रवचन को लिखने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं । स.)

मानस-रोग प्रकरण के प्रारम्भ में ही एक सूत्र दिया गया है और वह यह कि व्यक्ति के सामने अगर कोई सबसे बड़ी समस्या है तो वह सुख और दुःख की ही है । व्यक्ति सदा सुखी रहना चाहता है । समग्र सुख पाना चाहता है । वह चाहता है कि उनके जीवन में दुःख कभी न आए । पर ऐसी आकांक्षा होते हुए भी व्यक्ति के जीवन में अगणित दुःख आते रहते हैं । इन दुःखों का मूल कारण क्या है ? रामचरितमानस में दुःख के कारणों का विश्लेषण किया गया है । वहाँ इन कारणों को चार मार्गों में विभाजित किया गया है । इस प्रकरण के प्रारम्भ में ही गोस्वामीजी मनो-रोग को ही दुःखों का मूल कारण बताते हैं –

**सुनहु तात अब मानस रोगा ।**
**जिन्ह ते दुःख पावहिं सब लोगा ।। ७/१२१/२८**

- "अब आप उन मानस-रोगों के बारे में सुनिए जिसके कारण सब लोग दुःख पाते हैं ।" यह बात बड़ी सरलता से समझी जा सकती है और रोगी व्यक्ति तो और भी सरलता से समझ सकता है । एक दुःख तो होता है वस्तु के अभाव में, जिसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । इसी सत्य की स्वीकृति मानस में इन शब्दों में दी गई है –

**नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं । ७/१२१/१३**

"दरिद्रता से बढ़कर कोई दुःख नहीं है ।" जहाँ तक व्यक्ति के जीवन में अभावजन्य दुःखों का प्रश्न है, व्यक्ति उन अभावों को दूर करके दुःख दूर करने का प्रयत्न कर सकता है । लेकिन मन तथा शरीर दोनों के सन्दर्भ में एक बात समान रूप से दिखाई देती है कि जब हम रुग्ण हो जाते हैं, तब हमारा रोग अभावजन्य नहीं रह जाता । जैसे घर में विभिन्न प्रकार के

खाने की स्वादिष्ट वस्तुएँ हैं, लेकिन रोगी व्यक्ति कुछ खा नहीं पाता और इसी कारण दुःखी रहता है । ऐसे व्यक्ति की समस्या यह है कि वस्तु होने पर भी उसका दुःख घटता नहीं, बल्कि बढ़ता है । क्योंकि यदि वे वस्तुएँ न हो तो क्षण भर के लिए वह संतोष कर ले कि वस्तुएँ ही नहीं हैं तो क्या करें । पर जब वह देखता है कि दूसरे लोग हमारे सामने सुस्वादु व्यंजन का आनन्द ले रहे हैं और हम नहीं ले पा रहे हैं, तब वह जिस दुःख का अनुभव करता है, वह सचमुच बड़ा विचित्र प्रकार का दुःख है । यह अभावजन्य दुःख नहीं, बाध्यताजन्य दुःख है । इसे रामचरितमानस में कहा गया है –

**सरुज सरीर बादि बहु भोगा । २/१७८/५**

– "यदि शरीर रोगी है तो सारे भोग व्यर्थ हैं ।" अभिप्राय यह है कि अभावजन्य दुःख तो दूर होगा वस्तु की उपलब्धि से, लेकिन रोगजन्य दुःख ? वह तो उपलब्धि से नहीं स्वस्थता से ही दूर होगा । अगर रोगी व्यक्ति स्वस्थ हो जाय, तो जो वस्तुएँ उसे प्राप्त हैं उनका आनन्द लेने में वह समर्थ होगा । शरीर के सन्दर्भ में यह जितना सत्य है, उससे अधिक सत्य यह मन के सन्दर्भ में है । बल्कि यों कहें कि मन के सन्दर्भ में यह सबसे वड़ा सत्य है ।

व्यक्ति का मन अगर रोगी है, तो ऐसे व्यक्ति की समस्या यह है कि वह सुखों से घिरे रहने पर भी सुखी नहीं रह पाता । अब ऐसे व्यक्ति के दुःख को दूर करने का क्या उपाय है ? गोस्वामीजी बड़ी अनोखी बात कहते हैं –

**पर सुख देखि जरनि सोइ छई । ७/१२१/३४**

– दूसरों के सुख को देखकर जो दुःख होता है, वह अभावजन्य दुःख तो है नहीं, तो फिर यह कैसा दुःख है ? यह रोगजन्य दुःख है । मन के इस रोग की तुलना गोस्वामीजी शरीर के राजयक्ष्मा रोग से करते हैं । दूसरे के सुख को देखकर मन में जलन होना, यही मन का राजयक्ष्मा रोग है ।

कैसी विचित्र विडम्बना है ! व्यक्ति दुःख नहीं चाहता । सुखी रहना चाहता है । और यह दूसरों का सुख देखकर जलना क्या है ? यह कोई अभावजन्य दुःख तो है नहीं, कह सकते हैं, रोगजन्य दुःख है, पर उससे भी कहीं अधिक उपयुक्त होगा कि इसे स्वभावजन्य दुःख कहा जाय । व्यक्ति

को सुख उपलब्ध होते हुए भी वह अपने स्वभाव के कारण अनजाने ही स्वयं दुःख की सृष्टि कर लेता है । बड़ी अनोखी बात है । वस्तु का अभाव हो तो उसे वस्तु से दूर किया जा सकता है, पर स्वभावजन्य दुःख ? यदि स्वभाव ही हो दूसरों के सुख को देखकर दुःखी हो जाना, तो इसे स्वभाव को बदल कर ही दूर किया जा सकता है ।

रामचरितमानस में मानस-रोगों का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि व्यक्ति के जीवन में दुःख चार रूपों में आते हैं । रामराज्य के सन्दर्भ में गोस्वामीजी कहते हैं –

**राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं ।**
**काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं ।। ७/२१**

– रामराज्य में सब प्रकार के दुःखों का अभाव हो गया । कौन कौन से ? – काल, कर्म, स्वभाव और गुणजन्य दुःखों का । वैसे तो गिनती में हजारों प्रकार के दुःख हैं, लेकिन उन समस्त को चार भागों में बाँटा जा सकता है । कुछ दुःख तो कालजन्य हैं, कुछ कर्मजन्य, कुछ गुणजन्य और कुछ स्वभावजन्य । ये चार प्रकार के दुःख हैं, जिनका वर्णन रामचरितमानस में मानस-रोग के अन्तर्गत भिन्न भिन्न रूपों में किया गया है । रामायण के विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न पात्रों के माध्यम से इन दुःखों की उत्पत्ति का कारण और उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है । अलग अलग प्रकार के दुःख हैं, उनके लिए अलग अलग प्रकार के समाधान का संकेत है । किस प्रकार के दुःख आने पर हमारे अन्तःकरण की क्या भूमिका होनी चाहिए, किस प्रकार से उनका सामना करना चाहिए, किस प्रकार उन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, इसे अब हम रामायण के दृष्टान्तों के माध्यम से देखेंगे ।

एक प्रकार का दुःख है मृत्यु, जिसे हम कालजन्य दुःख कह सकते हैं । वैसे तो काल शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है, पर दृष्टान्त के लिए यहाँ समझें कि कालकृत दुःख का अभिप्राय है मृत्यु का दुःख । अब इस दुःख पर विचार करें । मृत्यु अवश्यम्भावी है । जन्म लेने पर मृत्यु अवश्य होगी । यह अत्यन्त स्वाभाविक है । इससे बचा नहीं जा सकता । इस दुःख को दूर करने का प्रयत्न व्यक्ति दो प्रकार से कर सकता है । एक तरह से रावण ने भी इस दुःख पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया । यह असुरों

की पद्धति है । असुरों ने सोचा कि अगर हम अमर हो जायँ, हमारा शरीर अमर हो जाय, तो हम काल पर विजय प्राप्त कर लेंगे । शरीर को अमर बनाने के लिए स्वस्थ रहने का प्रयत्न करें । वेदों में भी कहा गया – व्यक्ति सौ वर्षों तक जीवित रहने की आकांक्षा करे । स्वस्थ रहकर सत्कर्मों के द्वारा सौ वर्षों के जीवन का सदुपयोग करे । पर इस सौ वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा का अर्थ क्या है ? इसमें भी एक सीमा है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति भूल से भी सदा-सर्वदा के लिए शरीर को जीवित रखने की आकांक्षा न पाल ले । क्योंकि व्यक्ति जब भी शरीर को अमर बना लेने का प्रयत्न करेगा, तो उसे जीवन में उसी प्रकार निराशा मिलेगी जैसा कि असुरों के साथ हुआ था ।

मृत्यु कालजन्य दुःख का एक रूप है और उसका निराकरण है विवेक। जिस व्यक्ति में जितना ही अधिक विवेक होगा, वह उतनी ही सरलता से इस दुःख पर विजय प्राप्त कर सकेगा । रामचरितमानस में इसका एक सांकेतिक प्रसंग प्रस्तुत किया गया है । उसमें एक ओर रावण जैसा पात्र है, जो शरीर को अमर बनाने की चेष्टा करता है और अन्त में मृत्यु का ग्रास बन जाता है । इतना ही नहीं, बल्कि जिस शरीर को रावण अमर बना लेना चाहता है, उस शरीर की अन्तिम परिणति क्या है, उस ओर इंगित करते हुए बड़ी सांकेतिक भाषा में कहा गया है कि लंका का रणांगन रावण के सिर और भुजाओं से पटा पड़ा है । इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि रावण ने अमरता का अर्थ ले लिया शरीर की अमरता से और भगवान शंकर को सिर चढ़ाकर उनसे यह वरदान प्राप्त कर लिया कि सिर कटने के बाद फिर नया सिर निकल आए । यह वरदान पाकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि अब तो मैंने मृत्यु पर विजय पा ली, काल की समस्या का समाधान मिल गया । क्योंकि व्यक्ति के सिर कटने पर उसकी मृत्यु हो जाती है, पर मेरा सिर कटने पर नया सिर निकल आएगा और मेरी मृत्यु नहीं होगी । लेकिन रावण का गणित उल्टा सिद्ध हुआ । लंका में उस समय बड़ा बीभत्स दृश्य उपस्थित हुआ, जब रावण के क्षत-विक्षत सिर और भुजाओं से सारा रणक्षेत्र पटा हुआ था और गिद्ध तथा सियार उन्हें खा रहे थे। जब किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो उसके शव को उसके परिवारवाले या अन्य लोग भलीभाँति

सजाकर रखने का प्रयत्न करते हैं । वे चाहते हैं कि उनकी यह अन्तिम यात्रा सम्मानपूर्वक हो । लेकिन कैसी विडम्बना है । रावण के एक-दो सिर और भुजाएँ हों तो कोई उन्हें सँभाले, वहाँ तो अनगिनत सिर व भुजाएँ पड़ी हैं ।

रावण जब भगवान से युद्ध करता है तो भगवान उसका सिर काट देते हैं । पर जैसे ही उसका सिर कटता, एक नया सिर निकल आता । रावण पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ? उसने कहा – बस, राम इससे ज्यादा कुछ नहीं कर सकता । अधिक से अधिक वह सिर ही काट सकता है । पर सिर काटने से तो मैं मरा नहीं, मेरा नया सिर निकल आया । पर इस मूढ़ता के कारण रावण के शव की जैसी दुर्दशा हुई, वैसी तो सारी सृष्टि में साधारण-से-साधारण व्यक्ति की भी नहीं होती । लंका का सारा रणांगन रावण के सिर और भुजाओं से पट गया । आखिर कोई कितना सँभाले । मन्दोदरी बड़े दुःखपूर्वक देखती है कि चिल-गिद्ध मँडरा रहे हैं, सियार-कुत्ते दौड़ रहे हैं और रावण के सिर और भुजाओं को नष्ट कर रहे हैं । इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि शरीर तो अनित्य है ही, पर उसे अमर बनाने की चेष्टा में उसकी अन्तिम परिणति अतीव बीभत्स हो सकती है, उसकी बड़ी दुर्गति हो सकती है । रावण के लिये वरदान भी अभिशाप बन गया ।

रामायण में एक बड़ी अच्छी बात कही गयी है । विभीषण ने भगवान राम से कहा – "प्रभो, रावण यज्ञ कर रहा है ।" तो यह तो बड़ी अच्छी बात है। जो यज्ञ को नष्ट करता था, अब वह यज्ञ कर रहा है । पर विभीषण आगे कहते हैं –

**नाथ करइ रावण एक जागा ।**
**सिद्ध भएँ नहिं मरिहि अभागा ।। ६/८५/२**

– "अगर उसका यज्ञ सिद्ध हो गया, तो वह अभागा मरेगा नहीं ।" पढ़कर बड़ा विचित्र लगता है । नहीं मरेगा तो भाग्यवान है कि अभागा है ? कोई चिरायु होता है तो लोग कहते हैं कि वह बड़ा भाग्यवान है । कोई अल्पायु होता है तो कहते हैं, उसका भाग्य अल्प था । पर विभीषण बड़ी सार्थक बात कहते हैं । विभीषण के कहने का अभिप्राय यह है कि जिस मृत्यु से मनुष्य को मुक्ति मिलनेवाली है, उस मृत्यु का टलते जाना

कितना दुर्भाग्यपूर्ण है । इससे बढ़कर दुर्भाग्य रावण का और क्या होगा कि मुक्तिदाता के रूप में साक्षात श्रीराम खड़े हैं और रावण को शरीर से मुक्त करना चाहते हैं । पर रावण तो उस देह के बन्धन में और अधिक बँधता जा रहा था । इससे बढ़कर दुर्भाग्य की पराकाष्ठा रावण के लिए और क्या होगी ?

रावण का दुर्भाग्य यही है कि उसमें विवेक का सर्वथा अभाव है और दूसरों के विवेकपूर्ण सलाह का वह बारम्बार तिरस्कार करता है। स्वयं विवेकशून्य होते हुए भी वह अपने को महापण्डित मानता है। प्रकृति के अनिवार्य नियमों को लाँघना चाहता है। शरीर को अमर बनाने की चेष्टा करता है। काल और ईश्वर को भी जीत लेना चाहता है, और वह भी केवल इस देह के लिए। पर अन्त में कैसी दुर्गति कर ली उसने अपने देह की।

इस तरह असुरों की भाँति अगर कोई व्यक्ति काल को जीतने की चेष्टा करेगा तो वह कालजन्य दुःख को कभी नहीं जीत पाएगा । कालजन्य दुःख को जीतने में विवेक ही सहायक है । जिस व्यक्ति में विवेक है, वही कालजन्य दुःख से बच सकता है । इसीलिए रामचरितमानस में सर्वत्र यह संकेत दिया गया है कि कालजन्य दुःख पर विजय पाने के लिए देह को अमर बनाने की चेष्टा सही उपाय नहीं है, वह तो देहासक्ति से उपर उठकर ही प्राप्त की जा सकती है । इस प्रयास में जहाँ रावण के जीवन में असफलता दिखाई देती है, वहीं रामायण के ऐसे दो पात्र हैं, जिनके सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि वे जीवित रहें, पर उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। वे दो पात्र हैं गिद्धराज जटायु और बाली ।

गिद्धराज जटायु और रावण का युद्ध हुआ और उस युद्ध में ऐसा लगा जैसे रावण जीत गया और जटायु हार गये । रावण ने अपने कृपाण से उनके पंख काट दिये और वे पृथ्वी पर गिर पड़े । लेकिन कितनी विलक्षण बात है ! जीता कौन और हारा कौन ? देखने पर तो यही लगता है कि रावण जीत गया और गिद्धराज हार गये । किन्तु यदि अन्तरंग में पैठकर देखें तो एक दूसरा ही सत्य सामने आता है । गिद्धराज गिरकर जमीन पर पड़े हैं । पक्षी का पंख कट जाना माने उसके जीवन का व्यर्थ हो जाना है । लेकिन गोस्वामीजी कहते हैं कि यहाँ तो दूसरा ही दृश्य है।

क्या ? कुछ देर बाद जटायु ने देखा कि भगवान राम चले आ रहे हैं । गदगद हो गये । सोचा – चलो पंख कटना भी सार्थक हो गया । कैसे ? पंख होता तो मुझे उड़कर भगवान के पास जाना पड़ता । अब पंख नहीं हैं तो प्रभु स्वयं चलकर मेरे पास आ रहे हैं । पंख की सार्थकता, साधना की सार्थकता ईश्वर को पाने में है। पर जहाँ साधना और पुरुषार्थ की सीमा समाप्त हो गयी तो भगवान स्वयं कृपा करके आ गये । ऐसी स्थिति में मेरे पंख कट जाना, मेरी कोई पराजय नहीं है, यह मेरे लिए कोई दुःख की बात नहीं है । और जब भगवान गिद्धराज से यह प्रस्ताव करते हैं –

**मेरे जान तात ! कछु दिन जीजै ।**
**देखिय आपु सुवन - सेवासुख**
**मोहि पितुको सुख दीजै।। गीतावली ३/१५/१**

– "मेरे विचार से आप कुछ दिन और जीवित रहें । आप इस पुत्र की सेवा का सुख देखें और मुझे पिता का आनन्द दें ।" गोस्वामीजी ने यहाँ बड़ी अनोखी बात कही है । ईश्वर सच्चिदानन्द हैं, आनन्दघन हैं और जीव के जीवन में हर्ष-विषाद, सुख-दुख आदि लगे रहते हैं, परन्तु यहाँ तो दृश्य ही उल्टा है –

**राम कहा तनु राखहु ताता ।**
**मुख मुसुकाइ कही तेहिं बाता ।।३/३१/५**

श्रीराम का प्रस्ताव सुनकर गिद्धराज के मुख पर हँसी आ गयी । और भगवान की दशा क्या है –

**जल भरि नयन कहहिं रघुराई ।।३/३१/८**

– ईश्वर रो रहे हैं और जीव हँस रहा है । इससे बढ़कर विचित्र दृश्य और क्या होगा ? भगवान राम आँसू बहा रहे हैं और गिद्धराज जिनके पंख कटे हुए हैं, इतने कष्ट में है, भगवान उनसे जीवित रहने का प्रस्ताव करते हैं । सुनकर उन्हें हँसी आ गयी । भगवान का प्रस्ताव उन्होंने स्वीकार नहीं किया । इसका तात्पर्य क्या है ? उन्होंने प्रभु के शब्द को पकड़ लिया । कहा – प्रभु आपने ठीक कहा । क्या ? आपने कहा – 'कुछ दिन और जीवित रहिए ।' इसका अर्थ है कि उसके बाद मरिये । तो कभी न कभी तो मरना ही पड़ेगा । मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, तो फिर आज मैं इस सार्थक मृत्यु को क्यों छोड़ दूँ । इस शरीर का जो सर्वश्रेष्ठ

उपयोग हो सकता था, वह हो गया । पवित्र कार्य मे मेरा शरीर उत्सर्ग हो गया और इस समय मुझे आपका दर्शन हो रहा है । जिनका नाम स्मरण करना भी कठिन है, उनका साक्षात दर्शन हो रहा है । ऐसी विलक्षण मृत्यु को छोड़ दूँ , तो मुझसे बढ़कर अभागा भला और कौन होगा ? मुझे तो लगता है कि –

**मेरे मरिबे सम न चारि फल**
**होंहि तो क्यों न कहीजै ? गी. ४/१५/४**

– महाराज, जीवन के जो चार फल हैं – धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष – मेरा यह मरण उनसे भी महान है । धर्म की दृष्टि से – 'परहित सरिस धरम नहिं भाई ।' मेरा शरीर परहित के लिए जा रहा है, इसलिए धर्म की दृष्टि से यह सार्थक है। अर्थ की दृष्टि से देखें तो व्यक्ति सोचता है कि लागत कम और लाभ अधिक हो । गिद्धराज ने कहा – महाराज देख लीजिए, मैं मृत्यु में कम लगाकर अधिक पा रहा हूँ । इस गिद्ध शरीर को छोड़कर मैं कौन-सा शरीर पाऊँगा । भगवान बोले – आपको मेरा शरीर मिलेगा । आप सारूप्य मुक्ति प्राप्त करेंगे । गिद्धराज बोले – क्या इससे बढ़िया व्यापार कोई हो सकता है ? इस जर्जर गिद्ध शरीर को छोड़कर विष्णु का चतुर्भुज शरीर मिले, ऐसे लाभप्रद व्यापार को छोड़कर इस बूढ़े शरीर में पुनः लौट आऊँ, यह तो मेरे लिए बड़े घाटे का सौदा होगा । इसलिए अर्थ की दृष्टि से भी यह मृत्यु श्रेष्ठ है । और काम के सन्दर्भ में कहते हैं कि कामी व्यक्ति सौन्दर्य चाहता है । मैं तो अत्यन्त कुरूप हूँ । आपका सौन्दर्य पाकर काम की दृष्टि से मुझे सर्वोत्तम उपलब्धि हो रही है। मृत्यु का सुख तो मरने के बाद राक्षसों को भी मिलता है, पर मैं तो अपने जीवनकाल में ही मुक्त हो गया । मृत्यु भी कई तरह की होती है, पर ऐसी सार्थक मृत्यु, आप गोद में लिए हुए हैं, आपके करकमल मेरे मस्तक पर हैं, यह तो जीवनमुक्ति है ।

ये दो शब्द हैं – मुक्ति और जीवन्मुक्ति । मुक्ति तो रावण की भी हुई, पर कब ? जब उसके शरीर का उच्छेद हुआ । इसका अभिप्राय यह है कि उसने अपने शरीर को सीमा में घेर रखा था। शरीर से अलग होने पर ही रावण मुक्त हुआ । पर गिद्धराज की विशेषता यह है कि जीवित रहते हुए भी, शरीर में रहते हुए भी वे मुक्त हैं, क्योंकि शरीर के बन्धन

को उन्होंने स्वीकार ही नहीं किया। उन्होंने भगवान से कह दिया कि अब इस शरीर को रखने की आवश्यकता नहीं है । इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि एक ओर तो मृत्यु का विजेता रावण है, जो मृत्यु का ग्रास होने जा रहा है और दूसरी ओर मृत्यु का ग्रास बन जाने वाले गिद्धराज हैं, जो मृत्यु के पूर्व ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं । वे जानते हैं कि शरीर तो नाशवान है, अनित्य है । नित्य और अनित्य के भेद को जान लेने के कारण अपने विवेक से उन्होंने काल के दुःख को जीत लिया । इसीलिए उनके होठों पर हँसी आ गयी । सामने मृत्यु खड़ी होने पर भी उन्हें दुःख नहीं है। और यही कालविजय की परम्परा आपको बालि के जीवन में भी मिलेगी।

भगवान राम और बालि का प्रसंग बड़ा दार्शनिक अर्थ रखता है। वहाँ पर बालि के जीवन में भी कालविजय का क्रम दिखाई देता है । बालि ने अनेक राक्षसों को मारा । पर उसका दुर्भाग्य यह था कि उसने जितने भी राक्षसों पर विजय प्राप्त की, वे सभी विजय उसके लिए दुर्भाग्यपूर्ण रहे, उसके जीवन में कभी कल्याणप्रद नहीं हुए । क्यों ? इसलिए कि प्रत्येक विजय के बाद बालि के जीवन में अहंकार की वृद्धि होती गयी । बालि की विजय संसार के लिए कल्याणकारी न होकर उसके अहंकार को बढ़ानेवाली ही होती थी । इससे सम्बन्धित एक सांकेतिक कथा है । ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव रहते थे। उनसे प्रभु ने बड़े आश्चर्य के साथ पूछा कि बालि जब सर्वत्र तुम्हारा पीछा करता रहा, तो यहाँ क्यों नहीं आया । सुग्रीव ने बताया – 'इहाँ साप बस आवत नाहीं ।' बालि को श्राप है कि वह इस पर्वत पर नहीं आ सकेगा । यह बड़ी सांकेतिक कथा है । दुन्दुभी नाम के एक राक्षस ने बालि को चुनौती दी थी । बालि ने युद्ध में उसे मार डाला। इसी प्रसंग में मुनियों ने उसे श्राप दिया था । इससे बढ़कर दुर्भाग्य की बात क्या हो सकती है ? राक्षस का नाश करनेवाले को मुनियों से साधुवाद और आशीर्वाद मिलना चाहिए या श्राप ? पर कथा बड़ी सांकेतिक है । राक्षस को मारने के बाद तो बालि को आशीर्वाद अवश्य मिला होता, पर राक्षस को मारने के बाद उसने जो किया, वह उसके लिए दुर्भाग्यपूर्ण हो गया । क्यों ? बालि ने सोचा – मैंने दुन्दुभी को मार तो डाला, पर देखा किसने ? तो ऐसा करें कि जरा लोग

देखें । ऋष्यमूक पर्वत पर बहुत से ऋषि-मुनि रहते हैं । इस शव को वहीं फेंक दें, ताकि लोग देख लें कि हमने कितनी बड़ी विजय पाई है । और उसने दुन्दुभी का शव उठाकर उन ऋषि-मुनियों के आश्रम में फेंक दिया । परिणाम क्या हुआ ? मुनियों का सारा आश्रम अपवित्र हो गया । इससे क्रुद्ध होकर ऋषियों ने शाप दे दिया कि जिस व्यक्ति ने ऐसा किया है, वह यदि इस पर्वत पर आयेगा तो उसकी मृत्यु हो जायगी । बड़ा सूक्ष्म संकेत है । सत्कर्म में अगर दम्भ और अभिमान सम्मिलित हो जाय, व्यक्ति अगर सत्कर्म को भी प्रदर्शन की वस्तु बना ले, तब क्या होगा ? जो लोग सत्कर्म करके दिखावा करते हैं, वे अन्यत्र तो सम्मान प्राप्त करने के अधिकारी हैं, पर ऋष्यमूक पर्वत पर जाने के अधिकारी नहीं हैं । वे तो वस्तुतः श्राप और मृत्यु के ग्रास बनने के अधिकारी हैं ।

बड़ी विलक्षण बात है । जब तक बालि विजेता रहा, तब तक वह सत्य से दूर रहा और जब उसके जीवन में पराजय हुई तब उस पराजय के क्षण में उसके समक्ष सत्य का, तत्त्वज्ञान का उदय हुआ । गोस्वामीजी लिखते हैं –

**रामचरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग ।**

– और अगला वाक्य बड़ा महत्वपूर्ण है । जब बालि की मृत्यु का क्षण निकट आया तो उसे कैसा प्रतीत हुआ ?

**सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जाइ नागइ ।। ४/१०**

– वैसा ही जैसे हाथी के गले से फूलों की माला गिर जाय तो उसे पता नहीं चलता । इस पूरे संवाद में बालि के चरित्र का क्रमिक विकास दिखाई देता है । यह ज्ञान का सन्दर्भ है । शरीर का परित्याग करते समय बालि को रंचमात्र भी दुःख नहीं होता ।

यह बालि के चरित्र का चरम विकास है, उसके जीवन की सर्वोत्कृष्ट परिणति है । कहीं तो वह रावण को पराजित करके उसे मित्र बना लेता है, कहीं दुन्दुभी को मारकर भी वह पुरस्कार के स्थान पर श्राप पा जाता है । अनगिनत विजय प्राप्त करके उसके अभिमान की ही वृद्धि होती चली जाती है । यह है सत्कर्म के साथ जुड़ी हुई समस्या । बालि सत्कर्म और पुण्य का प्रतीक है । सत्कर्म और पुण्य के साथ आनेवाली समस्याओं को

बालि के चरित्र के माध्यम से प्रकट किया गया है । बालि के जीवन में क्रमशः ये तीन संकेत आते हैं – पहले भगवान श्रीराघवेन्द्र सुग्रीव को बालि से लड़ने भेजते हैं । वहाँ भी बड़ी अनोखी बात आती है, बड़ी दार्शनिक और मधुर बात । क्या ? भगवान ने प्रतिज्ञा की –

**सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान ।**
**ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान ।। ४/६**

– "मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि बालि को एक ही बाण से मारूँगा । यदि ब्रह्मा और रुद्र के शरण में चला जाय तो भी उसका प्राण नहीं बचेगा ।" सुग्रीव बड़े प्रसन्न हुए । पर भगवान ने बड़ी अनोखी लीला की । क्या ? सुग्रीव से कहा तुम गर्जना करके बालि को चुनौती दो और उससे युद्ध करो। सुग्रीव तो आश्चर्य से मुँह ताकने लगे । बोले – महाराज बालि को मारेगा कौन ? प्रभु बोले – मैं मारूँगा, लेकिन लड़ोगे तुम । यह तो बड़ी विचित्र बात है । पर यही तो दर्शन है । यह बड़े महत्व की बात है । जब भगवान ने प्रतिज्ञा की कि वे बालि को मारेंगे, तो उन्हें चाहिए था कि वे स्वयं बालि को चुनौती देते, युद्ध करते और उसे मार डालते । पर भगवान कहते हैं – नहीं ! लड़ना तो तुम्हें ही है और मारना मुझे है । यह सत्य केवल सुग्रीव के सन्दर्भ में नहीं, यह तो सबके जीवन का सत्य है। गीता और रामायण – दोनों का दर्शन यही है । गीता में भगवान अर्जुन को इसी सत्य का साक्षात्कार कराते हैं । महाभारत के रणांगण में उन समस्त योद्धाओं को किसने मारा ? मारा तो भगवान ने । क्योंकि भगवान ने अर्जुन को अपने विराट रूप का दर्शन कराया, तो उसमें अर्जुन ने देखा कि सारे योद्धा मरे पड़े हैं। अर्जुन ने पूछा – महाराज, इन्हें मारा किसने ? भगवान बोले – मैंने। – तो अब मुझे तो नहीं मारना पड़ेगा ? बोले – नहीं, पर लड़ना तो तुम्हें ही पड़ेगा ।

**मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।। गीता ११/३३**

– मैंने भले ही इन्हें पहले से ही मार दिया है, पर युद्ध तो तुम्हें ही करना है। और यही भगवान की प्रेरणा है – कर्म तुम करो, पर परिणाम तो मैं ही दूँगा । लड़ना कर्म है और अन्त में परिणाम है विजय । अगर मैं जीव से कह दूँ – तुम मत लड़ो, तब तो वह तमोगुणी और निष्क्रिय हो

जायगा। और यदि वह यह जान ले कि विजय भी उसके बस की बात है, तो उसके अन्तःकरण में अभिमान आ जायगा। इसलिए भगवान सुग्रीव के माध्यम से जो जीवन दर्शन देते हैं, वह बड़ा अनोखा है। वे कहते हैं – बालि को मारूँगा तो मैं, पर याद रखो कि युद्ध तुम्हें ही करना है। अभिप्राय यह है कि वास्तव में बालि के विजेता तो भगवान राम ही हैं, पर सुग्रीव उसके निमित्त बने। सुग्रीव इस दर्शन को स्वीकार कर लेते हैं। यह बोध ही भक्ति का स्वरूप है, जिसे भगवान सुग्रीव के जीवन में क्रमशः विकसित करते हैं। (क्रमशः)

# श्री चैतन्य महाप्रभु (२६)

*स्वामी सारदेशानन्द*

एक दिन चैतन्यदेव पंचगंगा घाट पर स्नान करने के पश्चात् बिन्दुमाधव का दर्शन करने जा रहे थे। अनेक भक्त भी उनका अनुसरण कर रहे थे। चन्द्रशेखर के एक मित्र परमानन्द एक अच्छे गायक थे, जो महाप्रभु के काशीवास के दिनों में उन्हें भजन सुनाकर आनन्द प्रदान करते थे, वे भी उन लोगों के साथ चल रहे थे। माधव का दर्शन और स्तुति-प्रार्थना आदि हो जाने पर चैतन्यदेव ने परमानन्द से भजन गाने का अनुरोध किया। परमानन्द ने जब कीर्तन आरम्भ किया, तो महाप्रभु और भक्तों ने भी उसमें योग दिया। संकीर्तन खूब जम उठा। भावाविष्ट चैतन्यदेव को घेरकर भक्तगण आनन्दपूर्वक नाचने लगे। संकीर्तन की मधुर ध्वनि से आकृष्ट होकर बहुत से लोग आकर उसमें सम्मिलित हो गये। आकाश और वायुमण्डल को प्रतिध्वनित करते हुए उच्च हरिध्वनि दिग्दिगन्त में व्याप्त होने लगी। प्रेमोन्मत्त चैतन्यदेव भक्तों के साथ उच्चस्वर और मधुरकण्ठ से गा रहे थे –

**हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।**
**यादवाय माधवाय केशवाय नमः।।**

नामकीर्तन की वह ध्वनि श्रोताओं के अन्तरतम प्रदेश में जाकर

उनके चित्त को बलपूर्वक आकृष्ट करते हुए उन्हें भगवद्भाव में विभोर कर रही थी। उस समय प्रकाशानन्दजी भी अपने शिष्यों के साथ गंगातट पर उपस्थित थे। वे भी आकृष्ट होकर उधर ही आ पहुँचे। कभी तो चैतन्यदेव भावावेश में स्थिर होकर चित्रलिखे से खड़े हो जाते तथा समवेत लोग तृषित नयनों से व्यग्रतापूर्वक उनकी देवदुर्लभ-रूपमाधुरी का पान करते रहते; फिर कभी उस अपूर्व भाव का वेग धारण कर पाने में असमर्थ होकर उनका स्वर्ण-का-सा शरीर धरती पर लोट जाता था, तब उनके अन्तरंग भक्तगण बड़ी सावधानीपूर्वक उस देव-शरीर की रक्षा करते। इस अद्भुत व्यापार को देखकर प्रकाशानन्दजी चकित और विस्मित रह गये; उनके संगीगण भी थोड़ी दूरी पर निर्वाक और निस्पन्दित होकर इस अभूतपूर्व भावसमुद्र की लीलालहरी का अवलोकन करने लगे। भावाविष्ट चैतन्यदेव के तेजोदृप्त दिव्य देह को देखकर प्रकाशानन्दजी भूल गये कि ये वही विनम्र मधुरभाषी युवा संन्यासी कृष्णचैतन्य भारती हैं ! आखिरकार प्रकाशानन्दजी अपना आत्मसंयम बनाये नहीं रख सके और उनके कोमल भक्तिपूर्ण हृदय का शुष्क ज्ञानावरण विच्छिन्न हो गया। भावाविष्ट होकर वे भी संकीर्तन में शामिल हो गये, शिष्यों ने भी उनका अनुसरण किया।

काफी काल नृत्य-गीत के पश्चात् चैतन्यदेव ने भाव संवरण किया और कीर्तन समाप्त हुआ । स्वाभाविक अवस्था में आने पर महाप्रभु ने अपने सम्मुख प्रकाशानन्दजी को देखकर उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया । इस पर प्रकाशानन्दजी के मन में बड़े संकोच का उदय हुआ । उन्होंने और भी अधिक विनय, सम्मान और भक्तिपूर्वक महाप्रभु को प्रति-नमस्कार किया । इस पर चैतन्यदेव ने कहा, "आप जगद्गुरु हैं, मैं आपके शिष्यतुल्य हूँ अतः प्रणाम के योग्य नहीं हूँ; आपके इस प्रकार प्रणाम करने से मेरा सर्वनाश हो जायगा ।" इसके उत्तर में प्रकाशानन्दजी ने उन्हें साक्षात नारायण के रूप में सम्बोधित करते हुए उनके माहात्म्य का वर्णन आरम्भ किया । चैतन्यदेव उन्हें बाधा देते हुए पुनः विनयपूर्वक बोले, "आप ब्रह्मज्ञानी हैं, आपके लिए सब कुछ ब्रह्म है, परन्तु दुर्बल जीवों का इससे अनिष्ट होता है । हम अति दुर्बल जीव है । देहात्मबोध-सम्पन्न साधारण मनुष्य के लिए, 'मैं ब्रह्म हूँ' – यह अभिमान बड़ा अकल्याणकर होता है । दुर्लभ जीव के लिए, 'मैं भगवान का दास हूँ'

– यही भाव श्रेयकर है ।"

प्रकाशानन्दजी ने कहा, "आप साक्षात भगवान हैं, तथापि यदि आपको उनका दास होने का अभिमान है, तो भी आप हम सबके पूज्य हैं और आपकी निन्दा करने से हमारा सर्वनाश हो जाएगा ।" प्रकाशानन्दजी का हृदय अब पूर्णरूपेण परिवर्तित हो गया था । उन्होंने पहले जो महाप्रभु की निन्दा की थी, उसके लिए आज क्षमायाचना करते हुए शास्त्रप्रमाण के साथ भक्तिमार्ग का रहस्य जानने की इच्छा व्यक्त की । उनके अन्तःकरण का रूपान्तरण तथा उपासना-तत्त्व जानने की उनकी हार्दिक आकांक्षा को देखकर चैतन्यदेव उन पर बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने प्रकाशानन्दजी को 'श्रीमद्भागवत' का अध्ययन और उस पर चर्चा करने को उत्साहित करते हुए कहा, "श्रीमद्भागवत में भक्तिमार्ग का सम्यक्-तत्त्व वर्णित हुआ है । उक्त मार्ग का वह प्रधान सिद्धान्त-ग्रन्थ है । भगवान वेदव्यास ने वेद, उपनिषद तथा ब्रह्मसूत्र के सार-संकलन के रूप में इस परमहंस-संहिता भागवत ग्रन्थ की रचना की थी और अपने तत्त्वशिरोमणि पुत्र शुकदेव को इसकी शिक्षा दी थी; फिर परमहंसाग्रणी श्री शुकदेव ने परीक्षित पर कृपा करते हुए इसका सम्पूर्ण जगत में प्रचार किया । इसमें निरूपित ब्रह्म निर्गुण होकर भी गुणमय हुए हैं, निरंजन होकर भी नररूपधारी हुए हैं । इसमें परमेश्वरतत्त्व और उनकी लीलाकथा विशेष रूप से वर्णित हुई है । इस पर चर्चा करने से भगवत्तत्त्व तथा भक्तिमार्ग का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है । इसे ब्रह्मसूत्र का भाष्य भी कहा जा सकता है ।" प्रकाशानन्दजी के साथ भागवत विषय पर उनकी विशेष चर्चा हुई थी । उन्होंने श्रुति एवं ब्रह्मसूत्र के वाक्यों के अनुरूप भागवत के श्लोकों का उल्लेख और व्याख्या करके, दोनों के भावों में पूर्ण साम्यता दिखायी । चैतन्यदेव के साथ तत्त्वचर्चा करते हुए प्रकाशानन्दजी को इतना आनन्द हुआ कि उन्होंने अपना बाकी समस्त कार्यक्रम छोड़ दिया और एक एक कर पाँच दिनों तक उनके साथ इसी विषय पर चर्चा करते रहे । श्रुति-स्मृति, न्याय-युक्ति की सहायता से चैतन्यदेव ने उनके अन्तर में भक्तिभाव को दृढ़मूल कर दिया । इसके बाद से उनके जीवन की गति और भावधारा पूर्णरूप से परिवर्तित हो गयी थी । वे चैतन्यदेव के परम अनुगत भक्त होकर जीवन के अन्तिम काल में व्रजवासी हुए थे और महाप्रभु के बारे में उन्होंने संस्कृत भाषा में एक

उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना भी की थी ।

काशी में इन नवीन बंगाली संन्यासी की 'भावुकता' का प्रभाव क्रमशः फैलता गया । उनका दर्शन करने तथा उनके सुमधुर वाक्य-सुधा का पान कर शीतल होने के लिए चारों ओर से बहुत से लोग उनके पास आने लगे । वे अपने को चन्द्रशेखर के यहाँ छिपाकर रखते और चुपके से तपन मिश्र के घर जाकर भिक्षा ग्रहण करते । वे लोगों से अधिक मिलना-जुलना पसन्द नहीं करते थे, परन्तु आग्रहवान दर्शकगण यह बात समझ नहीं पाते या फिर समझकर भी उनका दिल नहीं मानता था । वे लोग चैतन्यदेव को ढूँढ निकालते और जी भर कर उनके दर्शन करके तथा उनके उपदेश सुनकर अपने प्राण शीतल करते । महाप्रभु जब विश्वनाथ का दर्शन करने जाते तो लाखों लोग आकर वहाँ एकत्र हो जाते, जब वे गंगातट पर स्नान करने को जाते तो वहीं पर लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती ।

चैतन्यदेव ने दो महीनों तक काशी में रहकर भक्तिधर्म का प्रचार किया और अपने अन्तरंग भक्त सनातन को तत्त्वज्ञान और भजनप्रणाली की शिक्षा देने के बाद वे नीलाचल लौटने को प्रस्तुत हुए। सनातन की उनके साथ पुरी जाकर उन्हीं के समीप निवास करने की विशेष इच्छा थी, परन्तु महाप्रभु ने कहा, "तुम्हारे दो भाई वृन्दावन गये हैं, तुम भी वहीं जाकर साधन-भजन करना और किसी भक्त के आने पर उनकी सेवा करना । बाद में सुविधानुसार पुरी आकर मेरे साथ भेंट करना ।"

काशी के भक्तों से विदा लेकर तथा विश्वनाथ-अन्नपूर्णा को भक्तिपूर्वक प्रणाम करके, चैतन्यदेव बलभद्र भट्टाचार्य तथा उनके सेवक भक्त के साथ पुनः उसी झाड़खण्ड के रास्ते पुरी की ओर लौट चले । उनके विदा होने के बाद सनातन ने भी प्रयाग की ओर प्रस्थान किया ।

चैतन्यदेव के आदेशानुसार रूप और अनुपम व्रज में जा पहुँचे । वहाँ मथुरा में उनकी सुबुद्धि राय नामक एक बंगाली भक्त के साथ भेंट हुई । राय ने विशेष आदर-यत्न के साथ अपने पास ही उनके ठहरने-खाने की व्यवस्था कर दी और साथ ले जाकर उन्हें सम्पूर्ण व्रजमण्डल का परिदर्शन कराया । पाठकों की उत्सुकता के निवारणार्थ यहाँ पर हम सुबुद्धि राय की अद्भुत् कहानी का भी संक्षेप में वर्णन करेंगे ।

सुबुद्धि राय पहले गौड़ नगरी के एक सम्भ्रान्त और सम्पन्न नागरिक थे और गौड़ के नबाब हुसेनशाह बचपन में उन्हीं के आश्रय में प्रतिपालित हुए थे। इस प्रतिभावान बालक के ऊपर राय की बड़ी स्नेह-ममता थी और वे सदा उसकी भावी उन्नति तथा कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहा करते थे। स्नेहशील होते हुए भी राय बालक की सुशिक्षा के हेतु आवश्यकतानुसार उस पर कठोर अनुशासन बरतने में भी चूक नहीं करते थे। उसी काल में एक बार किसी गुरुतर अपराध के फलस्वरूप राय ने उन पर बेत से आघात भी किया था। दुर्भाग्यवश बेत की चोट जोर की लग जाने से बालक का कोमल शरीर कट गया और इसके फलस्वरूप उसके शरीर पर हमेशा के लिए एक दाग बना रह गया। परवर्ती काल में वह भाग्यशाली बालक अपने अध्यवसाय के बल पर जब बंगाल की राजगद्दी पर बैठा, तो उसने अपने पूर्व आश्रयदाता के प्रति कृतज्ञता जताते हुए, उन्हें अत्यन्त सम्मानपूर्वक लाकर एक उच्च राजकार्य में नियुक्त कर दिया। हुसेनशाह के शासन के प्रारम्भिक काल में नबाब की अनुकूलता के फलस्वरूप सुबुद्धि राय एक बड़े धनी-मानी और समृद्धिशाली व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुए और विविध प्रकार के सत्कर्मों के कारण चारों ओर उनकी ख्याति भी फैल गयी थी। परन्तु कुछ काल बाद ही उनका भाग्यचक्र विपरीत दिशा में घूमने लगा और वे बड़ी दुर्दशा में पड़ गये। हुसेनशाह की प्रियतमा बेगम को एक दिन बादशाह के शरीर पर वह पुराना दाग देखकर कुतूहल हुआ और पूछताछ करने पर, जब उन्हें पता चला कि वह सुबुद्धि राय के बेत का चिह्न है, तो वे आगबबूली हो उठीं। क्रोध से अभिभूत होकर सुबुद्धि राय को अपमानित करने के लिए बेगम ने हुसेनशाह को भड़काना आरम्भ किया। नबाब ने इस पर दुःख व्यक्त करते हुए कहा, "मै राय के अन्न पर पला हूँ, वे मेरे पितृतुल्य हैं, उन्होंने मुझे शिक्षा के निमित्त ही सजा दी थी और उन्हीं की कृपा से मेरी इतनी उन्नति हुई है, अतः किसी भी प्रकार उनके प्रति असम्मान दिखाना मेरे लिए अधर्म होगा।" परन्तु बेगम ने हार नहीं मानी, वे अपने अन्तर में सुबुद्धि राय के प्रति भयानक क्रोध का पोषण करती रहीं और बाद में मौका देखकर पुनः अपने पति को उनके खिलाफ उत्तेजित करने लगीं। आखिरकार नबाब को पत्नी का मन रखना ही पड़ा, क्योंकि उनके लिए

और कोई चारा न था । नबाब ने उन्हें और किसी प्रकार का कष्ट न देकर, केवल 'बधना का पानी' राय के मुख से लगवा दिया ।

मुसलमान का पानी मुख में पड़ जाने से राय का धर्म चला गया । जातिच्युत हो जाने के बाद उन्होंने ब्राह्मण, पण्डितों से प्रायश्चित की व्यवस्था माँगी । किसी किसी पण्डित ने कहा, "सर्वनाश ! मुसलमान का पानी ! महापातक हुआ । मुख में तप्त घी डालकर जल मरना ही इसके लिए एकमात्र प्रायश्चित्त है ।" फिर किन्हीं अन्य पण्डितों ने कहा, "यह अनिच्छाकृत पाप है, साधारण दोष है, अतः हल्का सा प्रायश्चित्त करने से ही हो जायगा ।" पण्डितों का भिन्न-भिन्न मत सुनकर सुबुद्धि राय उलझन में पड़ गये और काशी की विज्ञ पण्डितमण्डली से व्यवस्था पूछने को काशी आये । उसी समय चैतन्यदेव मथुरा जाने के पथ में पहली बार काशी आये हुए थे । मनोव्यथा से मृतप्राय राय उनका दर्शन करने आये । महाप्रभु का नाम तथा उनके अलौकिक प्रभाव की महिमा उन्होंने अवश्य ही सुन रखी थी । अब उस भुवनमोहन मूर्ति का साक्षात दर्शन तथा उनकी अमृतवाणी सुनकर राय का हृदय शीतल हुआ । राय के मुख से उनके अन्तर की दुःखभरी कहानी सुनकर चैतन्यदेव का हृदय विगलित हो उठा । वे उनको अभय देते हुए बोले, "हरिनाम लो । नाम के प्रभाव से तुम्हारा सारा पाप नष्ट हो जाएगा और कृष्ण के चरणों की प्राप्ति हो जायगी।"

चैतन्यदेव ने सुबुद्धि राय को भगवान का नामकीर्तन तथा तीर्थभ्रमण करने का उपदेश दिया था । उनके उपदेशानुसार राय काशी से चलकर प्रयाग व अयोध्या का दर्शन करते हुए नैमिषारण्य पहुँचे और अनुकूल स्थान देखकर वहीं कुछ काल रहते हुए भगवद्भजन करते रहे । भजन के फलस्वरूप चित्त शान्त हो जाने पर वे मथुरा गये । राय ने सुन रखा था कि चैतन्यदेव व्रजमण्डल का दर्शन करने आनेवाले हैं, अतः उन्हें आशा थी कि यहाँ पर भी उनसे भेंट होगी । परन्तु मथुरा पहुँचते ही उन्हें पता चला कि वे थोड़े ही दिन पूर्व व्रजमण्डल का दर्शन करके लौट चुके हैं। यह जानकर अन्तर में बड़ा खेद होने पर भी सुबुद्धि राय मथुरा में ही निवास करते हुए साधन-भजन में कालयापन करने लगे ।

वहाँ पर राय जंगल से सूखी लड़कियाँ लाकर बाजार में बेचते और इस प्रकार प्रदिदिन पाँच-छह पैसे कमा लेते । इसमें से एक पैसा तो वे अपने भोजन के लिए खर्च करते और बाकी एक दुकानदार के पास जमा कर देते । इस प्रकार एकत्र राशि को वे साधु-भक्तों एवं गरीब-दु:खियों की सेवा में व्यय करते । उन दिनों बंगाल के लोगों – विशेषत: साधु-संन्यासियों और निर्धनों को उस अंचल में जाकर रहने-खाने की बड़ी असुविधा थी । स्थानीय लोगों द्वारा प्रदत्त रूखी-सूखी मोटी रोटियाँ खाना नवागत बंगाली लोगों के लिए बड़ा कष्टकर होता था । इस कारण बंगाल का कोई व्यक्ति मिल जाने पर सुबुद्धि राय उसे ले जाकर बड़े आदर-यत्न से रखते और दही-भात खिलाकर उसका पेट शीतल कर देते । परन्तु अपना पूरा दिन वे स्थानीय लोगों के समान एक पैसे के सूखे चने चबाकर ही बिता देते ।

मथुरा आकर रूप और अनुपम की सुबुद्धि राय के साथ भेंट हुई । राय ने उन्हें देखते ही उनका स्नेहपूर्वक स्वागत किया और साथ ले जाकर सब दर्शनादि कराया । एक महीना वहाँ बिताने के बाद दोनों भाई सनातन से मिलने पुन: काशी की ओर चल पड़े । चैतन्यदेव मथुरा से गंगा के तटवर्ती पथ से लौटे थे, यह सुनकर उन दोनों ने भी वही पथ अपनाया और इधर सनातन काशी से चलकर प्रयाग दर्शन के उपरान्त राजमार्ग से मथुरा जा रहे थे । अत: अलग अलग रास्तों पर चलने के फलस्वरूप उनकी आपस में भेंट नहीं हुई । प्रयाग पहुँचकर रूप को सनातन के मथुरा जाने का संवाद मिला और उधर सनातन ने भी मथुरा पहुँचकर दोनों भाइयों के लौट जाने की खबर सुनी । आपस में भेंट न हो पाने के कारण तीनों को बड़ा दु:ख हुआ ।

सनातन को पाकर सुबुद्धि राय के चित्त में बड़ा हर्ष हुआ । उनकी सेवा-सुश्रूषा के लिए उन्होंने बड़ा प्रयास किया, परन्तु कठोर तपस्वी और तीव्र वैराग्यवान सनातन का शरीर की सुख-सुविधा की ओर थोड़ा भी ध्यान न था । वे सर्वदा भगवच्चिन्तन में विभोर रहते और महाप्रभु के आदेशानुसार वहाँ के लुप्त तीर्थों – श्रीकृष्ण के लीलास्थानों की खोज करने को व्याकुल थे । साधन-भजन व उपलब्धि की सहायता तथा भगवत्कृपा से दिन-पर-दिन उनकी वह आकांक्षा पूर्ण होने लगी । उन्होंने स्थानीय

पण्डों से मथुरा-माहात्म्य नामक पुस्तक प्राप्त की और साधु, पण्डितों व प्राचीन व्रजवासियों की सहायता से अनुसन्धान करते हुए धीरे धीरे वे उन लुप्त तीर्थों का उद्धार करने लगे ।

काशी से प्रस्थान करने के बाद चैतन्यदेव झाड़खण्ड के अंचल से होकर वनपथ पर चलते हुए यथासमय पुरी लौटे और जाकर श्री जगन्नाथ के पादपद्मों में लोट गये । उन्हें फिर अपने बीच पाकर पुरीवासी भक्तों का हृदय शीतल हुआ और प्रेमाश्रु बहाते हुए उन्होंने महाप्रभु की चरण-वन्दना की । उन्होंने सबका प्रेमालिंगन किया, कनिष्ठ लोगों ने उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हुए आशीर्वाद की याचना की । काफी दिनों बाद पुनर्मिलन होने के फलस्वरूप सबके हृदय में प्रेम की तरंगें उत्थित हो रही थीं ।

चैतन्यदेव फिर पहले के समान ही पुरी-भारती आदि संन्यासीगण, जगदानन्द-दामोदर आदि ब्रह्मचारीगण तथा रामानन्द-सार्वभौम आदि गृहीभक्तगण के साथ नीलाचल में रहते हुए, प्रतिदिन श्री जगन्नाथ का दर्शन, समुद्रस्नान और महाप्रसाद की भिक्षा ग्रहण करते हुए, परमानन्दपूर्वक कालयापन करने लगे । उनके पुरी लौटने का संवाद लेकर एक आदमी को बंगाल भेजा गया । शचीदेवी और भक्तगण यह समाचार पाकर अतीव आनन्दित हुए । आगामी रथयात्रा के अवसर पर उनसे पुनः भेंट होने की आशा में भक्तों का हृदय बल्लियों उछलने लगा । चैतन्यदेव के संन्यास के बाद के प्रथम छह वर्ष का अधिकांश भाग इसी प्रकार तीर्थाटन में ही व्यतीत हुआ था। इसके पश्चात् वे और कहीं भी नहीं गये। अब से उन्होंने पुरी में ही रहकर धर्मप्रचार, अन्तरंग भक्तों को शिक्षा तथा साधन-भजन, ध्यान-धारणा, श्रवण-कीर्तन आदि के द्वारा त्रितापदग्ध जीवों के अन्तर में शान्ति के शीतल वारि का सिंचन किया था ।[१]

---

१ बड़े विस्मय की बात है कि चैतन्यदेव के उत्तर-पश्चिमी भारत के भ्रमण-वृत्तान्तों में कहीं भी उनके अयोध्या-दर्शन का उल्लेख नहीं मिलता । सुबुद्धि राय के भ्रमण के विवरण से ऐसा लगता है कि उन दिनों अयोध्या की यात्रा ज्यादा कठिन नहीं थी । ऐसी हालत में चैतन्यदेव ने अपने परमप्रिय रघुनाथजी की जन्मभूमि का दर्शन नहीं किया, इस बात पर विश्वास नहीं होता ।

# सत्संग और उसका महत्व

स्वामी यतीश्वरानन्द

(स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष थे । उनका 'Meditation and Spiritnal Life' ग्रन्थ साधना-क्षेत्र में मार्गदर्शन करनेवाली एक अप्रतिम कृति है । उसी के एक अत्यन्त उपयोगी अध्याय का अनुवाद हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं; अनुवादक है स्वामी ब्रह्मेशानन्द, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कार्यरत हैं । - सं. )

### सत्संग की आवश्यकता

सभी धर्मों और सभी आध्यात्मिक साधनाओं में सन्तों एवं ज्ञानियों के संग को महत्व दिया गया है, और वस्तुतः यह साधक के आध्यात्मिक-विकास के लिए बहुत आवश्यक भी है। प्रारम्भिक साधक के जीवन का यह सबसे महत्वपूर्ण अंग है। भारत में आध्यात्मिक प्रगति के इच्छुक लोग सदा से आग्रहपूर्वक सन्तों का संग करने को प्रयत्नशील रहते आए हैं। सत्संग की उपयोगिता के विषय में श्रीरामकृष्ण-वचनामृत में एक महत्वपूर्ण वार्तालाप है—

> एक भक्त – महाराज, तो उपाय ?
>
> श्रीरामकृष्ण – उपाय है साधुसंग और प्रार्थना। वैद्य के पास गये बिना रोग ठीक नहीं होता। साधुसंग एक ही दिन करने से कुछ नहीं होता। सदा ही आवश्यक है। रोग लगा ही है। फिर वैद्य के पास बिना रहे नाड़ीज्ञान नहीं होता। साथ-साथ घूमना पड़ता है, तब समझ में आता है, कि कौन कफ की नाड़ी है और कौन पित्त की।
>
> भक्त – साधुसंग से क्या उपकार होता है ?
>
> श्रीरामकृष्ण – ईश्वर पर अनुराग होता है । उनसे प्रेम होता है । व्याकुलता न आने से कुछ नहीं होता । साधुसंग करते करते ईश्वर के लिए प्राण व्याकुल होता है। ...साधुसंग करने पर एक और उपकार होता है – सत् और असत् का विचार । सत् नित्य-पदार्थ अर्थात् ईश्वर; असत् अर्थात् अनित्य।[१]

दूसरे शब्दों में, सत्संग से त्याग के भाव की वृद्धि होती है । सर्वत्यागी सन्तों के साथ रहने से दूसरे लोग त्याग का मूल्य समझते हैं तथा उसकी साधना के लिए बल प्राप्त करते हैं । एक मुसलमान सन्त की कथा है, जिसके

---

१. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, पृ. ४६-४७

पास एक दिन सुलतान आया । सुलतान ने तपस्वी के त्याग की प्रशंसा की, जिसके उत्तर में सन्त ने कहा – मेरा त्याग ? क्यों ? तुम्हारा तो उससे अधिक है । मैंने तो संसार और उसके भोगों का त्याग किया है, जबकि तुमने तो भगवान तथा स्वर्ग-सुखों को त्याग दिया है ।

सम्यक संग का विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो बुद्ध द्वारा कथित सम्यक-स्मृति से निकट सम्बन्ध रखता है तथा वेदान्त की साधना में जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । यह गर्वित होकर दूसरों से दूर रहना, सहृदयता का अभाव और दूसरों के प्रति संवेदनशीलता का अभाव नहीं है । इसके विपरीत बाह्यतः कुछ लोगों का संग न करके दूर रहते हुए भी यह पूर्णतः दया का कार्य हो सकता है । त्याग और संन्यास को उच्च स्थान प्रदान करते हुए भी बौद्ध धर्म सभी प्राणियों के प्रति करुणा का धर्म है ।

आध्यात्मिक पथ के सहयात्री एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं । इसीलिए सत्संग इतना महत्वपूर्ण है । परस्पर सहायता, एक दूसरे के प्रति सद्भावना होनी चाहिए, क्योंकि ये हमारी शक्ति और प्रयास को बनाए रखने में मदद करती हैं । हमें कभी भी गुरु बनने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। बल्कि सहपाठी की तरह आचरण करना चाहिए और यदि सम्भव हो तो दूसरों की सहायता करनी चाहिए । यदि हम उचित सीमाओं में रहना जानते हों तो ऐसा करना सदा निरापद है । तब हम दूसरों तथा अपने लिए खतरनाक नहीं होते । तब अहंकार और अहमन्यता हममें अंकुरित होकर हमें और दूसरों को हानि नहीं पहुँचा सकतीं ।

"हे जगदम्बे ! मैं यन्त्र हूँ, तुम चलाने वाली हो ।" हमें यह मनोभाव अपनाना चाहिए, बड़प्पन का भाव कभी नहीं । दूसरों का नेतृत्व करने के पूर्व परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण के भाव से दूसरों की सेवा करना सीखो । कई बार हम बिना पर्याप्त प्रशिक्षण के दूसरों का पथ-प्रदर्शन करना चाहते हैं । हम पूरी कीमत चुकाए बिना फल प्राप्त करना चाहते हैं ।

भक्तों की छोटी मण्डली का लाभ यह है कि कम लोगों में स्वभाव की समानता होती है और ये सभी स्पष्ट निर्देश लागू होते हैं । छोटी मण्डली में चुगलखोरी के बिना सच्ची सहानुभूति का भाव होना आसान है, भले ही उसके सदस्य प्रारम्भिक साधक ही क्यों न हों । पहले गहन कर्म तथा बाद में

कार्यक्षेत्र का विस्तार करना सदा श्रेयस्कर है । प्रत्येक देश में ऐसे कुछ निष्ठावान लोग होने चाहिए, जो पूर्ण पवित्रता, सेवा और भक्ति के उच्चतम आदर्श के लिए प्रयत्नशील हों, जो उस आदर्श के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तत्पर हों, जो उसकी प्राप्ति के लिए कोई भी कष्ट सहने के लिए तैयार हों । चाहते हुए भी हम बड़े जनसमुदाय को आध्यात्मिक नहीं बना सकते । लेकिन हम ऐसे कुछ निष्ठावान लोगों का जीवन बदल सकते हैं, जिनके परिवर्तन का समय हो गया है ।

## मूर्खों का संग न करो

संस्कृत में एक प्रसिद्ध सुभाषित है, जिसका अर्थ है – " स्वर्ग में मूर्खों के सम्पर्क के बदले वन-पर्वतों में वनवासियों के साथ भ्रमण करना श्रेयस्कर है ।"[२]

अपने साधनकाल में यदि हम अच्छे, पवित्र, गहरे आध्यात्मिक भावापन्न और बुद्धिमान लोगों का संग प्राप्त न कर सकें, तो मूर्खों अर्थात सांसारिक भावापन्न लोगों के पास जाना और उनका संग नहीं करना चाहिए । उनके अपवित्र, अनैतिक स्पन्दन हमारी वर्तमान स्थिति में हमें प्रभावित करते हैं, भले ही हमें इसका पता न चले और हम यह सोचते रहें कि कुछ नहीं हुआ है । वराहनगर मठ में जब श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों ने स्वामी विवेकानन्द से शिकायत करते हुए कहा कि चूँकि वे अभी तक भगवद्दर्शन करने में सफल नहीं हुए हैं, अतः उन्हें अपने परिवारों में लौटकर गृहस्थों की तरह रहना चाहिए, तो स्वामीजी ने उत्तर दिया – "यदि मैं राम को न पा सकूँ, तो क्या इसीलिए मुझे श्याम (स्त्री) के पास जाना चाहिए ? ईश्वर की प्राप्ति नहीं हुई है, इसका अर्थ क्या यह है, कि मैं संसार में लौट जाऊँ ? नहीं, कभी नहीं ।" सभी को यह मनोभाव बनाए रखना चाहिए । लेकिन सामान्यतः लोग किसी का संग चाहते हैं, चाहे वह कुसंग ही क्यों न हो । वे अकेले रहना नहीं चाहते । यही सारी समस्या है ।

आध्यात्मिक प्रगति का एक असन्दिग्ध लक्षण यह है कि भक्त केवल परमात्मा तथा आध्यात्मिक विषयों को ही सुनना तथा उनकी चर्चा करना चाहता है । यदि कोई भक्त सांसारिक लोगों तथा सांसारिक वार्ता में रुचि

---

२ वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्र भुवनेष्वपि ।। (भर्तृहरिकृत नीतिशतकम्)

रखता है, तो उसकी भक्ति में कुछ गड़बड़ है तथा उसकी निष्ठा सन्देहास्पद है । कोई बाह्य वस्तु मुझे तभी आकृष्ट कर सकती है, जब उसके लिए मेरा मन लालायित हो अथवा उसके लिए मेरी आन्तरिक स्वीकृति हो । एक ही विचार के मनुष्य साथ रहते हैं क्योंकि उनके स्वभाव में समानता होती है । सच्चे आध्यात्मिक व्यक्ति सांसारिक लोगों की बातचीत तथा संग में रस नहीं ले सकते । सांसारिक मनोभाव वाले लोग बहुत चतुर तथा बौद्धिक दृष्टि से विकसित होते हुए भी अबोध होते है और साधक को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह ऐसे मूर्खों की संगत में अपना समय न बिताए । यह अत्यधिक आवश्यक है । मैं जानता हूँ कि मैं तुम में से कुछ लोगों को यह बात बारम्बार क्यों कह रहा हूँ ।

## पहले अपनी रक्षा करो

क्या तुमने कुछ लोगों को दूसरों का 'उद्धार' करने में व्यस्त देखा है ? ऐसे लोग पाश्चात्य में ही बहुतायत से हैं । कुछ लोग सदा दूसरों की आत्मा को नरकाग्नि से बचाने में व्यक्त रहते हैं । यह न सोचो कि तुम सन्त हो गए हो और अपनी इच्छानुसार सभी की संगत कर सकते हो । बुद्ध, ईसामसीह, रामकृष्ण जैसे लोग ही पापी के पास जा सकते हैं । तुम्हारी बात भिन्न है । तुमने अपने उद्धार के लिए भी पर्याप्त क्षमता अर्जित नहीं की है । यदि मेरी बात समझ में न आयी हो, तो जाओ और पापियों को परिवर्तित करने का प्रयत्न करो और देखो तुम्हारा क्या होता है । तुम्हें अभी अपनी साधना में लगे रहना चाहिए । आध्यात्मिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में तुम्हें अपनी आत्मा और परमात्मा के अतिरिक्त और किसी बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए । एक निर्दिष्ट उद्देश्य के लिए तीव्रता और लगन के साथ अपनी साधना करो । जप, ध्यान और स्वाध्याय में पर्याप्त प्रगति कर लोगे, तो तुम भी दूसरों की आध्यात्मिक सहायता कर सकोगे ।

कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा विपरीत लिंग के आकर्षण से अधिक प्रभावित होते हैं । कुछ लोगों में दूसरों की अपेक्षा काम के प्रलोभन की प्रतिक्रिया जल्दी होती है । ऐसे लोगों को दूसरों के संग के विषय में, प्रलोभनों के बीच जाने में अधिक सतर्क रहना चाहिए । श्रीरामकृष्ण के लाटू नामक एक शिष्य थे, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण से भेंट के पूर्व अपनी किशोरावस्था एक

गरीब ग्वाल-बाल की तरह समाज के निम्न वर्ग में व्यतीत की थी। वे लोगों को शराब पीते देखने के अभ्यस्त थे। श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आने के बाद युवक लाटू एक दिन एक मदिरालय के पास से गुजरे, जिससे उनकी पुरानी स्मृतियाँ जाग्रत हो उठीं और मन चंचल हो गया। दूसरों के विचारों को पढ़ने में समर्थ श्रीरामकृष्ण ने तत्काल लाटू की अशान्ति का कारण जान लिया और उन्हें शराबखाने के निकट से होकर न जाने की चेतावनी दी। उसके बाद युवक लाटू ने शराब की दुकानवाली सड़क से ही नहीं, बल्कि पास की अनेक सड़कों से आना-जाना बन्द कर दिया। इसके बदले वे घूमकर लम्बे रास्ते से आते-जाते थे, भले ही इसमें उन्हें अधिक चलना और कष्ट उठाना पड़ता था। इसमें क्या आश्चर्य है कि कालान्तर में वे ज्ञानियों में अग्रगण्य बने। सन्त सदा ही अपने जीवन के सभी पक्षों में ऐसे ही पक्के होते हैं।

सड़क पर चलते हुए कभी-कभी मैं कुछ लोगों को देखकर भौंचक्का रह जाता हूँ। उनके चेहरे पर इतनी कामुकता और लोलुपता रहती है, यहाँ तक कि उनके निकट गुजरने पर भी उनके स्पन्दन मुझे आघात देते हैं। ऐसे लोगों के साथ व्यवहार करने में हमें बड़ा सतर्क रहना चाहिए।

एक आवारागर्द की एक मजेदार कहानी है, जिसने उफनते नदी में कम्बल-सा कुछ तैरते देखा। वह तत्काल नदी में कूद पड़ा और उस वस्तु के निकट तैर कर उसे पकड़ लिया। पर अब वह सहायता के लिए चिल्लाने लगा। किनारे खड़े लोगों ने चिल्लाकर उसे कम्बल छोड़कर लौट आने को कहा। आवारागर्द ने उत्तर दिया, "मैंने तो छोड़ दिया है, पर यह नहीं छोड़ता।" जिसे उसने कम्बल समझा था, वह एक भालू था। हमारे साथ भी यही होता है। हम कुछ वस्तुओं या व्यक्तियों के पीछे जाते हैं, बाद में हम पाते हैं कि हम उनसे छुटकारा नहीं पा सकते।
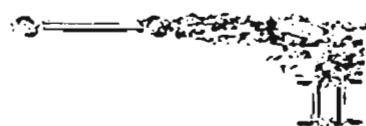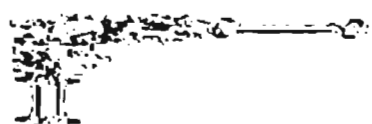
# आधुनिक युग में धर्म की आवश्यकता (१)

*स्वामी सत्यरूपानंद*

आवागमन और संचार के आधुनिक वैज्ञानिक साधनों ने इस विशाल संसार को सिकोड़ कर छोटा कर दिया है। आज संसार का कोई भी देश अन्य देशों से संबंध तोड़कर या उनकी उपेक्षा कर स्वतंत्र इकाई के रूप में अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ एशिया तथा अन्य पूर्वी देश वैज्ञानिक और तकनीकी कुशलता के लिए अमेरिका तथा युरोप के देशों पर निर्भर है। पूर्वी छात्र पश्चिमी देशों में जाकर विज्ञान और तकनीकी शिक्षा प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर पूर्वी देशों के कच्चे माल पर पश्चिम के कारखाने, निर्माणशालाएँ आदि निर्भर हैं। पश्चिमी देशों में बना माल पूर्वी देशों के बाजार में अधिक बिकता है। पश्चिमी देशों को भी पूर्वी देशों की ओर ही आना पड़ता हैं।

रेडियो, टेलीविजन, सेटेलाइट आदि उपकरणों के कारण संसार के किसी कोने में घटनेवाली घटना का ज्ञान सारे संसार को क्षण मात्र में हो जाता है तथा उसका प्रभाव भी सभी पर पड़ता है। आधुनिक युग में उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक अब कोई अंधकारमय द्वीप या स्थान नहीं है। आज का विश्व उस विशाल भवन की भाँति हो गया है, जिसमें एक ही परिवार के अनेक सदस्य भिन्न भिन्न कमरों में रहते हैं, जिनका अपना स्वयं का व्यक्तित्व तो है, किन्तु जिनकी सुरक्षा, उन्नति एवं अस्तित्व संपूर्ण परिवार की सुरक्षा आदि पर निर्भर करता है। आधुनिक संसार के सभी राष्ट्र या तो साथ साथ जियेंगे, उन्नति करेंगे या विनाश की विभीषिका में साथ साथ नष्ट हो जायेंगे। सहयोग और सह-अस्तित्व के अतिरिक्त आज और कोई विकल्प शेष नहीं रह गया है।

**वैज्ञानिक शक्ति**

विज्ञान ने आज मनुष्य के हाथों में प्रकृति की अनेक महान एवं अदम्य शक्तियों को सौंप दिया है। आज का वैज्ञानिक मानो प्रकृति का स्वामी बन बैठा है। विज्ञान ने हमें ऐसी शक्ति दी है, ऐसे उपाय बताये हैं, जिसके द्वारा हम प्रतिदिन प्रकृति के रहस्यावरणों को एक एक करके हटाते जा रहे हैं। इतना होते हुए भी विज्ञान का प्रत्येक नवीन आविष्कार जहाँ एक ओर मनुष्य को अधिकाधिक शक्ति और ज्ञान प्रदान करता है, वही दूसरी ओर वह उसे मनुष्य

के महान अज्ञान एवं भौतिक शक्तियों की तुच्छता का भी बोध कराता है ।

दूरदर्शक यंत्र के आविष्कार ने मनुष्य को ब्रह्माण्ड का नया रूप दिखाया, नये नये तारों-नक्षत्रों आदि से उसका परिचय कराया, किन्तु साथ ही साथ यह भी बताया कि ब्रह्माण्ड इतना विशाल है कि मनुष्य ने अभी उसकी प्रारंभिक जानकारी मात्र ही प्राप्त की है । ब्रह्माण्ड में अभी असंख्य ऐसे क्षेत्र हैं जिनके विषय में मनुष्य का ज्ञान शून्य के बराबर है ।

विद्युतशक्ति, अणुशक्ति आदि के रूप में विज्ञान ने मनुष्य को इतनी प्रचण्ड शक्ति प्रदान की है कि आज यदि वह चाहे तो वह कुछ घण्टों में ही संसार को नष्ट कर सकता है, उजाड़ सकता है । किन्तु वही वैज्ञानिक लाख प्रयत्न करने पर भी एक बार विस्फोट किये गये अणुबम की विनाशलीला को क्षण भर के लिये भी नहीं रोक सकता । विश्व को भस्म करने में समर्थ वैज्ञानिक जली हुई घास के एक तिनके को अपनी संपूर्ण वैज्ञानिक शक्ति द्वारा राख से पुनः हरी घास नहीं बना सकते ।

इस प्रकार विज्ञान जहाँ एक ओर मनुष्य की असीम शक्ति एवं सम्भावनाओ की ओर संकेत करता है वहीं दूसरी ओर, भौतिक शक्तियों की सीमा तथा उनके सम्मुख मनुष्य की विवशता की ओर भी अंगुलिनिर्देश करता है।

**वैज्ञानिक दृष्टिकोण**

विज्ञान ने मनुष्य को केवल भौतिकी एवं यांत्रिकी शक्तियाँ ही नहीं प्रदान की हैं, उसने मनुष्य को जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण भी प्रदान किया है। अंधविश्वास और रूढ़ मान्यताओं की दीवारों को ढहाकर विज्ञान ने मनुष्य के विचार और विश्वास को क्षेत्र का महान विस्तार किया है। आज हम प्रकृति के रहस्यों से भयभीत होकर उन्हें देवता मान अंधविश्वासपूर्वक पूजा नहीं करते, अपितु साहसपूर्वक मृत्यु भय का संकट भी स्वीकार कर प्रकृति के रहस्यों को भी जानने का, उनके कारणों को ढूँढ़ने का अथक प्रयत्न करते हैं। आज का शिक्षित व्यक्ति किसी रहस्य को इसलिये स्वीकार नहीं कर लेता क्योंकि वह तथ्य किसी प्राचीन ग्रंथ में लिखा है अथवा उसे किसी व्यक्तिविशेष ने कहा है। किसी तथ्य की सत्यता स्वीकार करने से पूर्व आज का शिक्षित मानव उसका प्रमाण चाहता है। तर्क और कार्य-कारण की कसौटी पर यदि वह तथ्य खरा उतरता है तभी मनुष्य उसे स्वीकार करता है। विज्ञान ने आधुनिक मानव को

तार्किक दृष्टिकोण प्रदान किया है । एक विद्वान का कथन है, "विज्ञान केवल तकनीकता नहीं है, वह जीवन का एक दृष्टिकोण है, जो तर्कवाद के नाम से जाना जाता है ।"

### वैज्ञानिक दृष्टिकोण सीमित है

विज्ञान का यह दृष्टिकोण यथार्थवादी है । विज्ञान सत्य के उतने ही अंश को स्वीकार करता है, जितने का ज्ञान उसे इन्द्रियों की सामान्य शक्ति या यंत्रों की परिवर्धित शक्ति से होता है । अन्तःस्फूर्त बोधात्मक ज्ञान को विज्ञान स्वीकार नहीं करता । विज्ञान केवल प्रत्यक्ष निरीक्षण और प्रयोग द्वारा प्राप्त इन्द्रियगम्य ज्ञान को ही स्वीकार करता है । अतः उसका ज्ञान तर्क एवं बुद्धि की सीमा में ही आबद्ध है । सत्य का उतना ही अंश जो इन्द्रियगम्य है विज्ञान के ज्ञान की अंतिम सीमा है । इन्द्रियातीत अनुभूति विज्ञान के लिए न केवल अज्ञात है अपितु वह अज्ञेय भी है । इस प्रकार विज्ञान का सत्य संकुचित एवं सीमित हो गया है ।

इस दृष्टिकोण के परिणामस्परूप वैज्ञानिक की दृष्टि में मनुष्य केवल एक भौतिक इकाई मात्र है । वह विभिन्न रासायनिक द्रव्यों का संघात मात्र है, जिसमें द्रव्यों के संघात से गति या जीवन उत्पन्न हो गया है । यदि उसे चेतना कहा जाय तो वह भौतिक चेतना मात्र है ।

### अन्तःस्फूर्त ज्ञान का महत्व

अनुभव हमें बताता है कि मानवीय ज्ञान की समस्त राशि केवल तर्क और बुद्धि द्वारा ही नहीं प्राप्त की गई है । उसमें अन्तःस्फूर्त बोधात्मक ज्ञान का भी बहुत बड़ा योगदान है । संगीत, साहित्य, कला आदि क्षेत्रों में प्राप्त ज्ञान केवल तर्क और बुद्धि का परिणाम नहीं है । वह अन्तःकरण में स्वयं उद्भूत ज्ञान की बाह्य अभिव्यक्ति है । वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, होमर, वर्ड्सवर्थ, रवीन्द्रनाथ आदि महाकवियों की रचनायें, जिन्होंने उनके अपने युग की धारा को बदल दिया तथा मानव जीवन को स्थायी रूप से प्रभावित किया तर्कसंभूत ज्ञान नहीं था । बुद्धि और तर्क के द्वारा इस अनुभूत ज्ञान का विश्लेषण किया जा सकता है, किन्तु उनके द्वारा इस ज्ञान को उपलब्ध नहीं किया जा सकता । उपलब्धि तो अन्तःस्फूर्त चेतना द्वारा ही संभव है ।

विज्ञान के क्षेत्र में भी सभी वैज्ञानिक ज्ञान एवं अविष्कार केवल तर्क बुद्धि

जन्य नहीं हैं । कई महान वैज्ञानिकों को उनके महान आविष्कारों का ज्ञान अन्तःस्फूर्त चेतना के द्वारा ही हुआ था। अन्तःकरण में स्फूर्त उस ज्ञान को प्रायोगिक विज्ञान द्वारा उन लोगों ने परवर्ती काल में क्रमबद्ध किया तथा उसे जनसुलभ बनाया । महान अविष्कार अन्तःस्फूर्त दर्शन तथा बोध के परिणाम हैं।

मानवीय अनुभव केवल इन्द्रियों तक ही सीमित नहीं है । डॉ. राधाकृष्णान ने लिखा है, "अनुभव केवल दर्शन तथा अन्तर्निरीक्षण तक ही सीमित नहीं है । उसमें अतीन्द्रिय जगत तथा आध्यात्मिक स्तर भी सम्मिलित है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवीय ज्ञान रूपी भवन के निर्माण में अन्तःस्फूर्त बोधात्मक ज्ञान का महत्वपूर्ण योगदान है।

### सुख की खोज मानव की मूल प्रवृत्ति

आधुनिक युग की दो महान विशेषताएँ हैं – पहला वैज्ञानिक उपलब्धियाँ और दूसरा वैज्ञानिक दृष्टिकोण । किन्तु इसके साथ ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण में अपूर्णता भी है जिसकी चर्चा ऊपर की गई है । विज्ञान ने मानव जीवन को सुखी बनाने के लिये अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की हैं । भोजन और शरीर रक्षा के लिये अब मनुष्य को शंकित होकर यहाँ वहाँ भटकना नहीं पड़ता । विज्ञान ने उसकी समुचित व्यवस्था कर दी है । आवागमन के द्रुत साधनों ने मानो दूरी को मिटा दिया है । उसी प्रकार मनुष्य की कार्यकुशलता एवं क्षमता भी अकल्पनीय रूप से बढ़ गई है । पहिले जो कार्य महीनों में होता था उसे अब यंत्रों की सहायता से दिनों में, घंटों में किया जा सकता है । आधुनिक मानव के पास सुविधाएँ तथा पर्याप्त समय है । मशीनों ने मनुष्य का स्थान लेकर उसे अधिक समय दिया है । मनुष्य इस समय का उपयोग और अधिक सुविधाएँ जुटाने में लगाता है ।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि मनुष्य सुविधाओं से क्या चाहता है ? इस प्रश्न का हम सभी प्रायः एक ही उत्तर देंगे और वह यह कि मनुष्य सुविधाओं से सुख चाहता है । इहलोक और परलोक सभी जगह मनुष्य सुख ही चाहता है । उपनिषद स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं – **"यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति"**(११६/२१/१ छादोग्य उप ) – (मनुष्य) जब सुख पाता है तभी (कर्म) करता है, असुख (दुख) पाने पर कर्म नहीं करता ।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव भी यही बताता है कि हम सभी कर्म सुखप्राप्ति के लिये ही करते है। इससे यह स्पष्ट है कि सुख की खोज मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है।

**बहिर्मुखता तथा व्यक्तित्त्व का विगठन**

दृश्यमान बाह्य जगत ही विज्ञान की खोज का विषय है । अतः विज्ञान द्वारा प्राप्त दृष्टिकोण भी सर्वथा बहिर्मुखी ही है । आधुनिक मानव स्वयं को छोड़कर संसार की सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है । उस प्रयत्न में वह अपने शरीर और मन की सारी शक्तियों को लगा देता है । इससे मनुष्य को अनेक उपलब्धियाँ भी हुई हैं । किन्तु आज मनुष्य यह अनुभव करने लगा है कि उसकी बड़ी से बड़ी उपलब्धियाँ भी उसे तब तक सुख नहीं दे सकती, जब तक कि उसके स्वयं का व्यक्तित्व संतुलित और सुगठित न हो । जब तक कि उसका स्वयं का मन संयत और स्वस्थ न हो ।

आज विज्ञान की कृपा से सुख भोग की असंख्य सुविधाएँ उपलब्ध हैं । व्यक्ति सुविधाओं से सुख ढूँढ़ता है । किन्तु वह भूल जाता है कि सुख सुविधाओं में न होकर सुविधाओं का उपभोग करनेवाले व्यक्ति के मन में होता है । सुख को अपने से बाहर ढूँढ़ने के प्रयत्न में मनुष्य अपनी सभी इन्द्रियों द्वारा संसार के विभिन्न विषयों का स्वाद लेता है । किन्तु वह अनुभव करता है कि कहीं भी उसे स्थायी सुख नहीं मिलता । वह जो चाहता है उसे नहीं पाता तथा जो पाता है उसे नहीं चाहता।

दिन रात इन्द्रियों को तृप्त करने के प्रयत्न में मनुष्य अपनी इन्द्रियों का दास हो जाता है । उसका अपने मन और इन्द्रियों पर कोई नियंत्रण नहीं रह जाता । उसकी स्वतंत्र इच्छाशक्ति समाप्त हो जाती है । वह अपनी वासनाओं के आधीन होकर यंत्रवत विवशतापूर्वक इन्द्रिय उत्तेजनाओं का ही अनुसरण करता रहता है । इस प्रकार उसका व्यक्तित्व सर्वथा विगठित हो जाता है । ऐसा व्यक्ति संसार का कोई भी महत् कार्य करने के सर्वथा अयोग्य हो जाता है। जीवन में ऐसा व्यक्ति कोई विशेष उपलब्धि नहीं कर पाता । उसका व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन दुखपूर्ण, नगण्य एवं निरर्थक हो जाता है ।

हममें से प्रत्येक ने ऐसे व्यक्तियों को देखा होगा जो न चाहते हुए भी

अपनी आदतों के आधीन रहते हैं । कितने ऐसे लोग हैं जिनका स्वास्थ्य धूम्रपान, मद्यपान आदि के कारण नष्ट हो रहा है, किन्तु वे छोड़ नहीं पाते । कितने परिवार क्रोध और कलह के कारण प्रत्यक्ष नरक के समान हो गये हैं । कितने पति प्रतिदिन सोचते हैं कि पत्नी पर संदेह नहीं करेंगे किन्तु घर के बाहर निकलते ही संदेह का भूत उन पर सवार हो जाता है । कितनी पत्नियाँ प्रतिदिन सोचती हैं कि वे कर्कशा नहीं होगी । पति से नहीं झगड़ेगी किन्तु प्रसंग आते ही उनकी जीभ उनके वश में नहीं रह जाती तथा वे पति से झगड़ पड़ती हैं । ये सब विगठित और असंतुलित व्यक्तित्व के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं ।

**मनुष्य का वास्तविक स्वरूप**

आधुनिक युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है मनुष्य का सही मूल्यांकन । उसके संबंध में सच्चा और सही दृष्टिकोण । आधुनिक विज्ञान इस संबंध में हमारा सही मार्गदर्शन नहीं कर सकता । मनुष्य क्या है ? उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? मनुष्य के भीतर वह कौन सी शक्ति है जो उसका संचालन करती है, उसका नियंत्रण करती है, उसे भले बुरे का ज्ञान देती है; उसमें नैतिक भावनायें, सत्य के प्रति निष्ठा त्याग, बलिदान, आदि की महत् भावनाएँ उत्पन्न करती है ? विज्ञान इस क्षेत्र में मौन हो जाता है । भौतिक विज्ञान की दृष्टि में मनुष्य जड़ पदार्थों के एक गतिशील संघात के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मनुष्य की भावनाओं, संवेदनाओं आदि के लिये विज्ञान में कोई स्थान नहीं है। किन्तु अनुभव हमें बताता है कि मनुष्य में जड़ तत्त्वों के अतिरिक्त और भी 'कुछ' है । यही 'कुछ' उसे पशु से भिन्नता प्रदान कर मनुष्य बनाता है ।

गीता और उपनिषदों में मनुष्य के वास्तविक स्वरूप की विस्तृत चर्चा की गई है। वहाँ बताया गया है कि मनुष्य मूलतः शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य आत्मा है, हाड़-मांस का पुतला मात्र नहीं। गीता में भगवान कहते है – "**देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत**" (२/३०) – सभी देहों के भीतर रहनेवाला देही अवध्य है। उसका नाश नहीं किया जा सकता। इशोपनिषद का आठवाँ मंत्र कहता है, "वह (आत्मा) दीप्त, शरीररहित, घावों से रहित, नाड़ी संस्थान से रहित शुद्ध है, स्वयंभू है आदि।" "तत् त्वं असि" तथा "अहं ब्रह्मास्मि" – तू वही है तथा मैं ब्रह्म हूँ। उपनिषदों के इन प्रसिद्ध मंत्रों से तो सभी परिचित हैं। स्वामी विवेकानन्दजी ने भी कहा है, "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है।"

संसार के सभी महान धर्म, मसीहा, पैगम्बर यह घोषणा करते हैं कि मनुष्य केवल मात्र भौतिक पदार्थ नहीं है । उसके भीतर एक अक्षुण्ण चेतना भी है । वही उसका वास्तविक स्वरूप है । अज्ञान के कारण मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता और इसीलिये उसे इतना दुख कष्ट भोगना पड़ता है । (शेष आगामी अंक में)

# विवेकानन्द और मानवधर्म

*स्वामी आत्मानन्द*

भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी. वी. गिरि ने कन्याकुमारी में विवेकानन्द शिला स्मारक का उद्‌घाटन करते समय स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित धर्म की विवेचना करते हुए कहा था – "एक शब्द में अगर उनके धर्म को व्यक्त किया जाय तो वह होगा 'मानवधर्म', जिसमें संसार के सभी धर्मों को आत्मसात कर लिया गया है । उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रचार किया और व्यक्ति के स्वार्थशून्य बनने पर बल दिया । उन्होंने इस पर जोर दिया कि हर व्यक्ति को चरित्र, ईमानदारी और सच्चाई में प्रतिष्ठित होना चाहिए तथा निःस्वार्थ सेवा का कार्य करना चाहिए । उन्होंने यह उचित बात कहीं कि मुख्य कार्य है व्यक्तिगत चरित्र का विकास करना, और यदि व्यक्तिगत चरित्र विकसित हो गया तो समूचे राष्ट्र का चरित्र स्वाभाविक रूप से गठित हो जाएगा ।"

श्री गिरि ने स्वामीजी के सन्देश का विवेचन करते हुए आगे कहा, "स्वामी विवेकानन्द की देन हमारे देश में केवल धार्मिक जागरण अथवा सांस्कृतिक पुनरुत्थान तक ही सीमित नहीं था, बल्कि उसने अधिक रूप से लोगों के देखने और समझने के तरीके में आमूल परिवर्तन उपस्थित किया। इस दृष्टि से, शंकराचार्य के बाद उनका ही स्थान आता है । उनके व्यक्तित्व में दार्शनिक, सन्त, देशभक्त, विचारक और सुधारक के अनेक आयाम समाहित थे...। वे केवल 'परलोक' का ताना-बाना बुननेवाले एक अकर्मण्य दार्शनिक नहीं थे अथवा ऐसे सन्त भी नहीं थे जो

कर्मों के त्याग और आत्मा के चिन्तन पर जोर देते हैं, वे तो जनता की आशा-आकांक्षा के प्रति सजग थे और उनकी समस्याओं से गहरे रूप से सम्बन्धित थे । वे धर्म को व्यावहारिक रूप देने की अथक चेष्टा करते रहे जिससे एक साधारण व्यक्ति भी धर्म के अर्थ को और आज के सन्दर्भ में उसके महत्व को समझ सके । स्वामी विवेकानन्द के सन्देश को दो ही शब्दों में निचोड़ा जा सकता है – 'मनुष्य बनो' । जैसा कि उन्होंने बताया, उनका लक्ष्य 'मनुष्य बनानेवाला धर्म' था ।"

वास्तव में स्वामीजी को मानव सबसे प्रिय था, क्योंकि उनकी दृष्टि में 'मानव-शरीर में मानव की आत्मा ही एकमात्र उपास्य देवता' था । वे यह स्वीकार करते थे कि हर प्राणी का शरीर एक मन्दिर है, पर मानव-शरीर को वे सबसे उत्कृष्ट मन्दिर मानते थे और उनका विचार था कि यदि मानव-शरीर रूपी मन्दिर में भगवान की उपासना न हो सकी, तो और दूसरे मन्दिर किसी काम के न थे । तभी तो उन्होंने अपनी अमृतमयी वाणी से कहा था – "प्रत्येक नर और नारी को, हर व्यक्ति को नारायण की दृष्टि से देखो । तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते, मात्र सेवा करने का अधिकार तुम्हारा है । अतएव ईश्वर की सन्तानों की सेवा करो, यदि सौभाग्य मिले तो साक्षात् नारायण की सेवा करो । यदि ईश्वर के अनुग्रह से तुम उनकी किसी सन्तान के काम आ सके तो तुम धन्य हो । ...उसे पूजा की दृष्टि से करो । निर्धन और पीड़ित तो हमारी मुक्ति के साधन हैं, ताकि हम रोगी के रूप में, पागल के रूप में, कोढ़ी और पापी के रूप में आनेवाले नारायण की सेवा कर सके ।"

वैसे तो स्वामीजी के लिए प्राणिमात्र ही नारायण का रूप था तथापि 'भूखे-नंगे नारायण', 'उत्पीड़ित और दलित नारायण' उनके विशेष सेव्य थे । उन लोगों की सेवा के सामने निर्विकल्प समाधि का ब्रह्म-साक्षात्कार और ब्रह्मानन्द स्वामीजी के लिए गौण था । तभी तो मानवधर्म की अभिव्यंजना करते हुए वे भारतवासियों से कहते हैं – "जाओ, जाओ, तुम सब लोग वहाँ जाओ, जहाँ प्लेग फैला हो, जहाँ दुर्भिक्ष काले बादलों की भाँति छा गया हो, जहाँ लोग दुःख के भार से पीड़ित हो, और जाकर उनका दुःख हल्का करो ।" वे पुनः कहते हैं – "ऐ नवयुवको ! मैं गरीबों, मुर्खों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और अथक प्रयत्न को थाती

के तौर पर तुम्हें सौंपता हूँ । जाओ, इसी क्षण जाओ उस पार्थसारथी के मन्दिर में, जो गोकुल के दीन-दरिद्र ग्वालों के सखा थे, जो गुहक चाण्डाल को भी गले लगाने में नहीं हिचके, जिन्होंने अपने बुद्ध-अवतार में अमीरों का न्यौता अस्वीकार कर एक वारांगना का न्यौता स्वीकार किया और उसे उबारा, जाओ उनके पास, जाकर साष्टांग प्रणाम करो और उनके सम्मुख एक महाबलि दो, अपने जीवन की बलि दो – उन दीन, पतित और उत्पीड़ितों के लिए, जिनके लिए भगवान युग युग में अवतार लिया करते हैं और जिन्हें वे सबसे अधिक प्यार करते हैं ।"

वास्तव में स्वामी विवेकानन्द की हृत्तंत्री के तार भूखी, नंगी, अशिक्षित जनता की बेबसी के रागों में बँधे हुए थे । चहुँ ओर व्याप्त दरिद्रता का नग्न आर्त्तनाद उन तारों को झनझना देता और स्वामीजी को प्रतीत होता, मानो कोई उनके हृदय को निचोड़े डाल रहा है । तभी तो उन्होंने धर्म की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा था – "मैं उस धर्म में विश्वास नहीं करता, जो विधवा के आँसू पोंछने में समर्थ नहीं है । मैं उस धर्म का विश्वासी नहीं हूँ, जो अनाथ बालक के करुण रुदन को चुप नहीं कर सकता ।" उन्होंने अपनी इस व्याख्या के द्वारा मानवधर्म का पथ प्रशस्त किया है । वे तो कहते हैं – "यदि हम अपनी प्रार्थना में कहें कि भगवान ही हम सबके पिता हैं और अपने दैनिक जीवन में प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई न समझे, तो फिर उसकी सार्थकता ही क्या ?"

स्वामीजी मानवधर्म का पाठ पढ़ाते हुए कहते हैं – "जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे पहले उनकी सन्तानों, इस संसार के सारे जीवों की सेवा करनी चाहिए । शास्त्रों में कहा है कि जो भगवान के सेवकों की सेवा करते हैं, वे भगवान के सबसे बड़े सेवक हैं । निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है । जिसमें इस निःस्वार्थता की मात्रा अधिक है, वह अधिक आध्यात्मिकता-सम्पन्न है और शिव के अधिक निकट है और यदि कोई स्वार्थी है तो फिर चाहे उसने सारे मन्दिरों के ही दर्शन क्यों न किये हों, सारे तीर्थों में ही क्यों न घूमा हो, अपने शरीर को चन्दन आदि से चीते के समान क्यों न रँग डाला हो, परन्तु फिर भी वह शिव से बहुत दूर है ।"

अतएव, स्वामीजी की दृष्टि में, सच्ची उपासना का सार है – पवित्र

होना और दूसरों की भलाई करना । उनके मतानुसार, "जो शिव को दीन-हीन में, दुर्बल में और रोगी में देखता है, वही वास्तव में शिव की उपासना करता है और जो शिव को केवल मूर्ति में देखता है, उसकी उपासना केवल प्रारम्भिक है । जो मनुष्य शिव को केवल मन्दिरों में देखता है, उसकी अपेक्षा शिव उस व्यक्ति पर अधिक प्रसन्न होते हैं जिसने बिना किसी प्रकार जाति, धर्म या सम्प्रदाय का विचार किये, एक दीन-हीन में शिव को देखते हुए उसकी सेवा और सहायता की है ।"

यह स्वामी विवेकानन्द की मानवधर्म सम्बन्धी कल्पना थी जिसका आधार मनुष्य की अपरिवर्तनशील आत्मा थी । आत्मा में धर्म और सम्प्रदाय का कोई तंग दायरा नहीं होता, वहाँ तो केवल मानव ही सर्वोच्च है । मानव समूह को विभाजित करनेवाली धर्मान्धता स्वामीजी की दृष्टि में एक रोग थी और वे किसी भी उपाय से इस रोग को दूर करना चाहते थे। उन्होंने अपने गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव को समस्त धर्मों के जीते-जागते विग्रह के रूप में देखा था, जिन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभासम्पन्न मेधा से न केवल भारतवर्ष के, वरन् भारतेत्तर देशों के भी समस्त विरोधी मत-मतान्तरों में समन्वय स्थापित कर, एक अद्भुत सार्वभौम धर्म का आविष्कार किया था । स्वामीजी इस सार्वभौम धर्म के मूलतत्त्वों का अधिकाधिक प्रचार और प्रसार करना चाहते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि श्रीरामकृष्ण के जीवन में रूपायित इस मानवधर्म के द्वारा विश्व के भिन्न-भिन्न धर्मानुयायी व्यक्तियों को एक सूत्र में ग्रथित करना सम्भव हो सकेगा । आज जब हम घोर साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के शिकार हो रहे हैं, तब स्वामीजी द्वारा प्रचारित इस मानवधर्म की शिक्षा बहुत महत्व की सिद्ध होगी । अतएव मैं अपनी इस वार्ता का उपसंहार स्वामीजी के उन प्रेरणादायक शब्दों को दुहराकर करूँगा, जो उन्होंने मानवधर्म की आत्मा को व्यक्त करते हुए कहा था – "हमारा मूल मंत्र 'स्वीकार' हो, न कि 'बहिष्कार' । ...मैं ईश्वर की पूजा सभी धर्मों के अनुसार करता हूँ, चाहे वे जिस रूप में उसकी पूजा करते हों। मैं मुसलमानों के साथ मस्जिद में जाऊँगा, ईसाइयों के साथ गिरजाघर में जाकर क्रास के सामने घुटने टेकूँगा, बौद्ध विहार में प्रविष्ट होकर बुद्ध और उनके संघ की शरण लूँगा तथा अरण्य में जाकर, हिन्दुओं के साथ

बैठ ध्यान में निमग्न हो सबके हृदय को उद्भासित करनेवाली ज्योति के दर्शन करने में सचेष्ट होऊँगा ।

"मैं केवल इतना ही नहीं करूँगा, बल्कि मैं अपना हृदय भविष्य में आनेवाले सभी धर्मों के लिए खुला रखूँगा । क्या ईश्वर का ग्रन्थ समाप्त हो गया ? अथवा अभी भी वह क्रमशः प्रकाशित हो रहा है ? संसार की ये आध्यात्मिक अनुभूतियाँ एक अद्भुत ग्रन्थ है । बाइबिल, वेद, कुरान और अन्य धार्मिक ग्रन्थसमूह मानो उसी ग्रन्थ के विभिन्न पृष्ठ हैं और उसके असंख्य पृष्ठ अभी भी अप्रकाशित हैं । अतीत में जो कुछ हुआ है वह सब हम ग्रहण करेंगे, वर्तमान ज्ञान-ज्योति का उपभोग करेंगे और भविष्य में आनेवाली बातों को ग्रहण करने के लिए अपने हृदय के सारे दरवाजों को खुला रखेंगे । अतीत के ऋषियों को प्रणाम ! वर्तमान के महापुरुषों को प्रणाम ! और जो भविष्य में आएँगे उन सबको प्रणाम !!"
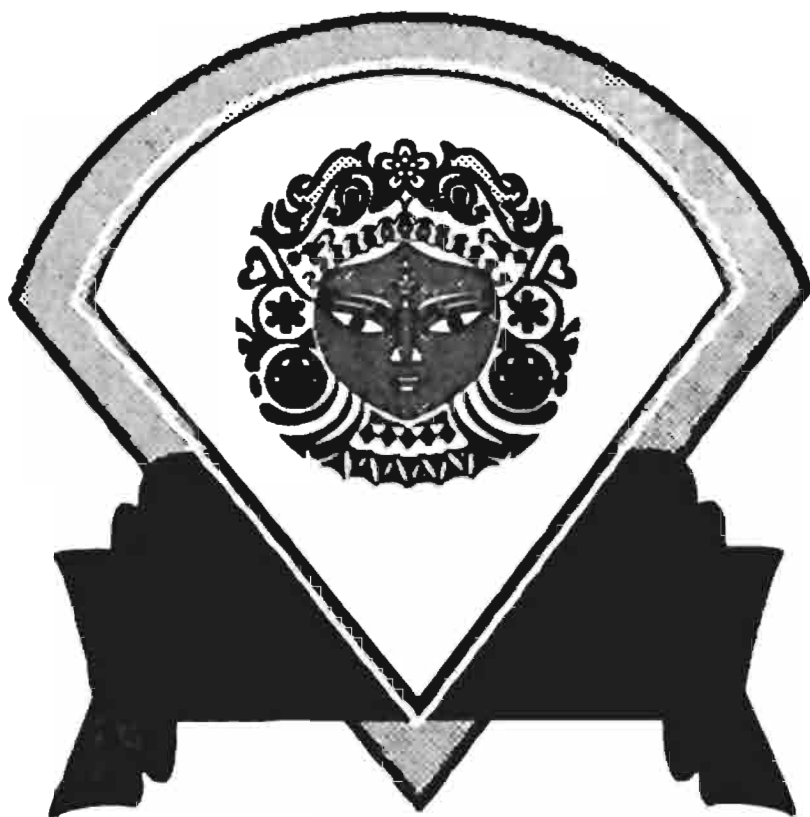
# स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(मूल बँगला पत्रों से संकलित तथा अनुदित)

– ५० –

ऐसा कहते हैं कि श्रीपाद रूप गोस्वामी ने 'य- री, र- ला, इ- रं, न- य' ये कुछ अक्षर लिखकर एक ब्राह्मण के हाथों अपने भाई सनातन को एक पत्र के रूप में भेजा था । इतने से ही सनातन अपने भाई रूप के मनोभाव से अवगत हो गए थे । पन्तु मुझमें ऐसी क्षमता कहाँ हैं ? 'य-री, र- ला, इ- रं, न- य' का पूरा अर्थ इस प्रकार है –

य- री = यदुपतेः क्व गता मथुरापुरी
र- ला = रघुपतेः क्व गतोत्तरकोशला ।
इ- रं = इति विचिन्त्य मनः कुरु सुस्थिरं
न- य = न सदिदं जगदित्यवधारय ।।[1]

ये कुछ शब्द ही रूप के भाई को उपयुक्त और पर्याप्त सिद्ध हुए थे । क्योंकि वे विषय-मद में मतवाले होकर संज्ञाशून्य हो गये थे । परन्तु आपकी बात अलग है । आप तो यह समझ चुके हैं कि यह संसार बच्चों का खेल मात्र है, इसमें सार कुछ भी नहीं है । उनकी कृपा से इस बात की भी आपको दृढ़ धारणा हुई है कि एकमात्र प्रभु ही इसके सार-सर्वस्व हैं और उनका भजन करना ही इस जीवन का एकमात्र कर्तव्य है । अतैव **न सदिदं जगदित्यवधारय** यह बात आपको पुनः विशेष रूप से कहने की आवश्यकता न होगी । **अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम** – इस बात को गीता में भगवान मानो शपथ लेकर कह गए हैं, यह तो आप अच्छी तरह से जानते हैं । तथापि – **अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा । ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्**'[2] – पूर्ण मनोयोग से ऐसा न कर पाने के कारण ही आपको यह शिकायत तथा खेद है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है । रामप्रसाद, कमलाकान्त आदि महात्माओं के भजन पढ़कर समझ में आता है कि पूर्वकाल में माँ के बहुत से सन्तान ऐसा

---

१ यदुपति श्रीकृष्ण की मथुरा अब कहाँ है ? रघुपति श्रीराम की अयोध्या भी अब कहाँ रही ? इस पर विचार कर मन में इस बात की दृढ़ धारणा करो कि यह जगत् सत्य नहीं है ।

२ अनासक्ति रूपी शस्त्र के द्वारा इस महा संसार- वृक्ष का दृढ़तापूर्वक छेदन करो, फिर उस परमपद का अन्वेषण करो । (गीता १५/३-४)

किया करते थे । फिर यह भी देखने में आता है कि वे बारम्बार कह रहे हैं कि माँ जैसे रखें वही अच्छा है । माँ उन्हें चाहे जिस भी परिस्थिति में क्यों न रखें, वे सर्वदा माँ को स्मरण रखना चाहते थे । ठाकुर गाया करते थे –

"माँ काली ! तू मुझे चाहे जब भी जैसे भी रखे, शरीर चाहे भस्म-विभूति से भूषित हो या मणि-कांचन के अलंकारों से, वृक्ष के नीचे निवास हो या राजसिंहासन पर, पर यदि मैं तुझे न भूलूँ तो सभी कुछ मेरे लिए मंगलमय ही होगा।"[३]

वे और भी कहा करते थे – "बिल्ली के बच्चे को उसकी माँ कभी राख के ढेर पर रखती है तो कभी गद्दी पर, परन्तु बच्चा 'म्याऊँ म्याऊँ' छोड़कर और दूसरा कुछ भी नहीं कहता । माँ ही जानती है कि बच्चे को कहाँ रखना अच्छा रहेगा । वे कल्याणमयी हैं, सब कुछ भले के लिए ही करती हैं । भक्त तो कुछ भी नहीं चाहते । वे तो सालोक्य, सामीप्य इत्यादि भी "दीयमानं न गृह्णन्ति"[४] वे तो केवल प्रभु की सेवा की याचना किया करते हैं, यह तो आपको भलोभाँति विदित है ।

हमारे ठाकुर 'पाप' शब्द सहन नहीं कर पाते थे । 'मैं पापी हूँ' – ऐसा विचार करने से सबको मना करते थे। बल्कि वे यह सोचने की सलाह दिया करते थे कि जब मैं उनका नाम ले रहा हूँ, फिर मुझे कैसी चिन्ता और कैसा भय – "अरे, जिसकी माँ स्वयं ब्रह्ममयी है, वह भला किससे भयभीत होगा ?"

आपने यह बात बिल्कुल सत्य लिखी है कि वे चाहे तो एक क्षण में सब कुछ तोड़- फोड़ कर नया गढ़ सकते हैं । 'गढ़ सकते हैं' क्यों – गढ़ा है और गढ़ रहे हैं । यह पागल की कल्पना नहीं है। यह अत्यन्त सत्य है । उनके पास क्या नहीं ? वे अनन्त करुणासिन्धु हैं । वे सभी प्रश्नों से परे हैं । और भक्तों की मनोकामना को पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्ष वे ही प्रभु हमारे भूत, भविष्य तथा वर्तमान सब कुछ हैं । हम कोई दूसरा भविष्य क्यों मानेंगे ?

**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।**

---

३. एक बँगला भजन का भावार्थ ।

४. देना चाहने पर भी नहीं लेते । सालोक्य- सार्ष्टि- सामीप्य- सारुप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः । (भागवत ३/२८/१३)

**अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।।** [५]

भगवान का यह वाक्य ही हमारे लिए प्रमाण, आश्रय तथा एकमात्र अवलम्बन है । अतः हम क्यों न गाएँ –

"हे प्रभो, मैं जानता हूँ, तुम मंगलमय हो
प्रतिक्षण मैं इसका प्रमाण पाया करता हूँ ।
अपने विधान के अनुसार
चाहे तुम मुझे सुख में रखो या दुःख में,
मैं तुम्हें मंगलमय ही कहूँगा
हे प्रभो, चाहे जो भी करना, परन्तु मुझे त्याग न देना ।
तुम्हीं मेरे एकमात्र भरोसा हो ।
आओ प्रभु मेरे हृदय में आओ,
मेरा कल्याण निश्चित है ॥[६]

वे जैसे भी रखें, वही अच्छा है – इसमें दुःख करने का कुछ भी नहीं तो भी हमारी प्रार्थना यही है कि उनके श्रीचरणों में सोलह आने ही नहीं, बल्कि पाँच चवन्नियाँ और पाँच आने मन लगे । और यदि कभी हम उन्हें भूल जाएँ तो भी वे हमें न भूले । वे हमें पूर्ण विवेक-वैराग्य प्रदान करें, क्योंकि **एकं विवेकं प्रौढ़ं आदाय संकेषु न मुह्यति ।**[७] इत्योम् ।

– ५१ –

सर्वदा प्रभु का स्मरण-मनन करते रहना । एक बार अभ्यास हो जाने पर यह अत्यन्त आसान हो जाता है और इसी को सकल मंगल का मूल समझना ।

---

५. हे अर्जुन, मैं सभी जीवों के हृदय में चैतन्यरूप से अवस्थित हूँ । मैं ही सब भूतों की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाशस्वरूप हूँ ।(गीता १०/२०)

६. एक बँगला भजन का भावानुवाद ।

७. दृढ़तापूर्वक एकमात्र विवेक का आश्रय लेकर विचरण करने से मनुष्य फिर संसार-संकट से मोहित नहीं होता ।

# स्वामी विवेकानन्द का शिक्षादर्श

*स्वामी श्रीकरानन्द*
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर

(९ सितम्बर, १९९४ ई. को स्वामी विवेकानन्द के शिकागो अभिभाषण की शताब्दी पूर्ति के अवसर पर रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में आयोजित सभा में अतिथि वक्ता के रूप में प्रदत्त व्याख्यान का अनुलिखन।)

आज हम ऐसे महापुरुष का स्मरण करने के लिए यहाँ एकत्रित हुए हैं जो सम्भवतः विश्व-इतिहास में बुद्ध के बाद पुनः एक पूर्ण आदर्श मानव के रूप में प्रकट हुए थे। जागतिक और आध्यात्मिक मानवता दोनों ही अपनी पूर्णता लिए उनमें उद्भाषित होती दिखायी पड़ती है। इसीलिए तो शिकागो धर्ममहासभा में उन्हें देखकर लोगों को बरबस भगवान बुद्ध का स्मरण हो आता था। वहाँ की अधिकृत रिपोर्ट में भी उल्लेख मिलता है - जिनकी मुखाकृति बुद्ध के अप्रतिम चेहरे से आश्चर्यजनक साम्य रखती है उस लोकप्रिय हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द ने इस प्रकार कहा - आदि आदि।

स्वामीजी की भी भगवान बुद्ध के प्रति गहरी श्रद्धा थी और वे उनके उस प्रकार के उदार हृदय से निःसृत मानव के प्रति उद्दाम करुणा को भारत के उत्थान के लिए आवश्यक मानते थे। शिकागो की सभा में ही 'बौद्ध धर्म के समर्थन' में बोलते हुए उन्होंने कहा था - "हम आपके बिना नहीं रह सकते और न आप हमारे बिना। इसलिए अपने सम्बन्ध-विच्छेद ने हमें क्या सिखाया है, इस पर विश्वास करो और समझो कि ब्राह्मण (अर्थात् हिन्दू) की बुद्धि तथा उसका दार्शनिक ज्ञान, इनको त्यागकर आप टिक नहीं सकते और न हम आपके हृदय बिना। बौद्ध और ब्राह्मण का यह विच्छेद ही भारतवर्ष के अधःपतन का कारण है। इसीलिए भारत आज तीस करोड़ भीखमंगों का निवासस्थान बना हुआ है तथा इसी कारण से विगत हजारों वर्षों से भारत विजेताओं का गुलाम बना हुआ है। अतः हम ब्राह्मणों की इस अपूर्व बुद्धि को बुद्ध के हृदय, उनके उदार भाव और उनकी अद्भुत मानवीकरण शक्ति के साथ संयुक्त करें।"

स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्णदेव में शास्त्रों में वर्णित मनुष्य की दिव्यता का पूर्ण प्रकाश देखा था और स्वयं अपने जीवन में भी उसका अनुभव किया था। पर आज से १०० वर्ष पूर्व भारत की अपनी परिव्रज्या के समय उन्होंने देखा था कि ऋषितुल्य महापुरुषों की सन्तानें कैसी अधोदशा को प्राप्त हो गयी हैं। कुछ गिने-चुने साधनसम्पन्न उच्चवर्ग के लोग थे अवश्य, पर वे भी अपने उन असख्य असहाय

भाइयों के प्रति उदासीन थे। यही देखकर स्वामी विवेकानन्द जी ने दुख प्रकट करते हुए एक पत्र में लिखा था - "मैं उनपर दया करता हूँ; यह उनका दोष नहीं है। वे बालक हैं, निरे बालक, भले ही समाज में वे महान और बड़े समझे जाते हों। वे अपने कुछ गज वाले सीमित क्षितिज के परे देख नहीं पाते - वही जीवन का ढर्रा, रोजमर्रे की जिन्दगी, खाना-पीना, कमाना और सन्तानोपत्ति - गणित के क्रम की तरह वंशक्रम से। उनकी निद्रा कभी भंग नहीं होती। कभी स्वप्न में भी वे उन दैहिक, मानसिक और नैतिक अत्याचारों को नहीं देखते, जिसने देवतुल्य मानवसन्तान को सिर्फ जीवन को ढोनेवाला पशु बना दिया है और जगन्माता की प्रतिमूर्ति नारी को सिर्फ सन्तान उत्पन करनेवाली गुलाम तथा जीवन को एक अभिशाप बना दिया है।"

शताब्दियों तक विदेशी भारत पर शासन करके इतिहास रचते रहे और भारत दिन-पर-दिन पददलित होता गया। परिणाम - भारत के बहुसंख्य लोग पशु स्तर पर जीने को बाध्य हुए। वे भूल से गये थे कि वे भी मनुष्य हैं। और उनके भीतर भी वही मानवीय शक्ति और दिव्यता अन्तर्निहित है, जिसका उनके ऋषितुल्य पूर्वजों ने अनुभव किया था। उनकी यह दयनीय दशा देखकर स्वामी विवेकानन्द का हृदय दुःख से क्रन्दन कर उठा था। और इसीलिए अपने भारत-भ्रमण के अन्त में कन्याकुमारी की शिला पर बैठे इन सन्त के ध्यान का केन्द्र दिव्यलोक में बैठा कोई देवता न था, था तो भारतभूमि का यह मानव, जिसके भीतर वेदान्त दर्शन ने ईश्वर को प्रतिष्ठित देखा है। इस जर्जर, भग्न मानवरूपी मन्दिर में पुनः प्राण-प्रतिष्ठा कर, उसके भीतर उसी दिव्यता को कैसे आलोकित करें, यही उनके चिन्तन का विषय था। पाश्चात्य जगत् में पहुँचकर, वहाँ की मानव-प्रगति को देखकर, उन्हें भारत की शताब्दियों की उस अँधेरी रात में आलोक की एक किरण दिखायी दी, और वह थी शिक्षा। इसीलिए उन्होंने भारतवासियों को प्रेरणा देते हुए अपने एक पत्र में लिखा था -

"जनता में शिक्षा का प्रचार करके उन्हें ऊपर उठाओ, तभी देश का उठना सम्भव है। यहीं पर सारा दोष है। असल भारत जो झुग्गी-झोपड़ियों में रहता है वह अपना मनुष्यत्व ही भूल गया है, भूल गया है कि उसका कोई अस्तित्व भी है। हिन्दू, मुसलमान या ईसाई लोगों के पैरों तले कुचलते कुचलते उसे ऐसा लगने लगा है कि वह उन सब सम्पन्न लोगों के पदतले रौंदे जाने के लिए ही जन्मा है। उन्हें उनका वह खोया हुआ अस्तित्व-बोध पुनः लौटाना होगा, उन्हें शिक्षा देनी होगी। हमारा कर्तव्य बस इतना ही है कि सब रासायनिक तत्त्वों को एक कर दो, फिर दैवी विधान से उनमें अपने आप अलग अलग कणों का निर्माण हो जायगा। उनके मस्तिष्क में ऐसे विचारों को डाल

दो और वे स्वयं कार्य कर लेंगे।"

शिक्षा से मनुष्य के भीतर यह विश्वास जागता है कि वह झुण्ड में रहनेवाले पशुओं के समान नहीं है, समाज में सबके साथ रहते हुए भी उसका स्वयं का स्वतंत्र अस्तित्व है, यह freedom of individuality का बोध शिक्षा का पहला स्तर है। आज हमारी शिक्षा इस पहली स्तर तक ही पहुँची है। स्वामीजी ने जो गिने-चुने उच्च सुविधासम्पन्न लोग उस समय देखे थे, आज उनकी संख्या कई गुनी बढ़ गयी है, पर उनकी मनःस्थिति उसी प्रकार अपने स्वार्थ तक ही सीमित है। अभी शिक्षा ने हमें मनुष्य जैसे कार्य करना learning to do सिखाया है, पर मनुष्य जैसे स्वाभाविक रूप से बनने की शिक्षा learning to be नहीं मिली है। यही वास्तविक शिक्षा है। यूनेस्को ने भी इसी को सही शिक्षा माना है। स्वामी विवेकानन्द जी यही मनुष्य बनानेवाली शिक्षा भारत में चाहते थे। नहीं तो मनुष्य शिक्षित होकर भी एक अपूर्ण मनुष्य ही रह जायगा। अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ ने भी कहा था - "Unless above himself he erects himself, how poor a thing is man!" अर्थात - "मनुष्य जब तक स्वयं को अपने आप से ऊपर नहीं उठाता, तब तक वह कितना क्षुद्र प्राणी हैं !"

इसलिए शिक्षा को उस उच्च स्तर पर उठाना होगा जहाँ मनुष्य freedom of individuality से freedom and responsibility of personality में विकसित हो सके। भारत के गौरवमय इतिहास का आधार था - 'त्याग और सेवा'। उसे समाज में पुनः प्रतिष्ठित करना होगा। हमारे शास्त्रों ने मानव-क्षमता को चार पुरुषार्थों में बाँटा है - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। स्वतंत्रता के पूर्व भारत के समाज में अर्थवाला पुरुषार्थ उपेक्षित और धर्म भी रूढ़िवादी था, इसीलिए समाज श्रीहीन रहा। स्वतंत्रता के बाद आर्थिक पुनरोद्धार के प्रयासों से अर्थवाला पुरुषार्थ तो जरूर प्रबल हो गया, पर शिक्षा के क्षेत्र में धर्म का पुरुषार्थ एकदम उपेक्षित हो गया। इसका एक कारण तो पाश्चात्य भौतिकवादी विचारधारा पर आधारित शिक्षा का अनुकरण था, तो दूसरा धर्मनिरपेक्षता वाली नीति का ठीक क्रियान्वन न होकर, बल्कि धर्म के प्रति उपेक्षा का भाव ही अधिक मुखर हुआ। और उसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा पूरी तरह अर्थकरी हो गई समाज का सारा दृष्टिकोण अर्थकेन्द्रित हो गया। सारे मानवीय सम्बन्ध भी अर्थ के मापदण्ड से तौले जाने लगे। कामरूपी पुरुषार्थ पर भी धर्म का अंकुश न होने से समाज की नैतिक मान्यताएँ टूटने लगी हैं और इसके फलस्वरूप समाज से शान्ति और व्यवस्था वाला मोक्षरूपी पुरुषार्थ लुप्त-सा हो गया है।

आज भारत में यदि सन्तुलित मानव समाज गढ़ना है, तो शिक्षा के द्वारा धर्म-

और अर्थ - इन दोनों पुरुषार्थों को समान रूप से बच्चों के कोमल मन पर स्थापित करना होगा। धर्म का अर्थ यहाँ बच्चों के भीतर निहित पूर्णता या दिव्यता का विश्वास जगाना और उसको जीवन में अधिक से अधिक प्रकट करने के प्रयास के लिए प्रेरित करना है। उनको उसी प्रकार शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक रूप से सशक्त रूप में गढ़ने की चेष्टा करनी होगी। यही चरित्र-निर्माण है। दिव्यता का भाव जितना ही व्यक्त होगा उतना ही वे हृदयवान होकर, सबको बिना किसी जाति, वर्ण, मत आदि भेदों के, दिव्य समझकर प्रेम कर सकेंगे। तभी वे एक Universal citizen (उदार नागरिक) बन सकेंगे। शिक्षानीति के लिए तो समाज शासन से अपेक्षा करता है, पर समाज का भी अपना दायित्व है कि वह अपने स्तर पर अपने बच्चों में इस प्रकार की शिक्षा देने की चेष्टा करे, नहीं तो देश में यह अराजकता की जो भयावह अग्नि धधक रही है, वह सारे समाज को भस्म कर देगी।

स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि भारत का प्राणकेन्द्र धर्म ही है, इसलिए भारत को पुनः गौरवमय बनाने के लिए उसके प्राणकेन्द्र को जीवन्त बनाना होगा। यही होगी मनुष्य का निर्माण करनेवाली शिक्षा।

---

# राष्ट्रीय समस्याएँ और विवेकानन्द

*श्री कनक तिवारी*
अध्यक्ष, लघु उद्योग निगम
मध्यप्रदेश शासन

(शिकागो धर्ममहासभा में स्वामी विवेकानन्द के योगदान की शताब्दी-पूर्ति समारोह के तहत ९ सितम्बर १९९४ ईए को रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग भवन में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया था, जिसका संक्षिप्त विवरण पिछले अंक में प्रकाशित हो चुका है। उक्त सभा में श्री कनक तिवारी ने विशिष्ट अतिथि के रूप में जो व्याख्यान दिया था, उसी का लिप्यन्तरण प्रकाशित किया जा रहा है। - सं।)

११ सितम्बर, १८९३ एक दिन था धरती के इतिहास का जब शिकागो के इसी तरह के एक हाल में इससे लगभग दस गुनी बड़ी सभा में, हिन्दुस्तान के ३० साल के एक नौजवान संन्यासी उसमें गये थे। मैं जोर देकर इस बात को कहना चाहता हूँ और जहाँ भी जाता हूँ कहता हूँ कि वे हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में वहाँ नहीं

गये थे, बल्कि भारत के प्रतिनिधि के रूप में वहाँ गये थे। विवेकानन्द एक असाधारण वक्ता थे, यह बात तो इतिहास ने हमको बहुत बाद में बताई, लेकिन जिस दिन उनका भाषण होना था, वे पूरे सुबह के सत्र में भाषण नहीं दे पाये, माँ सरस्वती की याद करते रहे। जाने क्या संकोच उनके मन में था, लेकिन दोपहर के सत्र के बाद एक फ्रांसीसी पादरी के अनुरोध पर विवेकानन्द बोलने को खड़े हुए और केवल एक शब्द जब उन्होंने कहा - "अमरीकावासी मेरे भाईयो और बहनो" - तो उस हाल में कई मिनट तक तालियाँ ही तालियाँ बजती रहीं। अमरीका की छाती पर हिन्दुस्तान की संस्कृति, सभ्यता और उसके अध्यात्मिक दर्शन का यह पहला झंडा विवेकानन्द ने गाड़ा था और वह भी किसी दुश्मनी की या तुलना की भावना से नहीं, बल्कि आपसी भाईचारे, विश्वबन्धुत्व तथा प्रेम की भावना के साथ।

उनके भाषण में बहुत सी बातें हैं, जो आपने पढ़ी होंगी। लेकिन इस विद्वान सभा को यह सूचित करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि अद्वैत आश्रम की किताबों में भी सन् १९८३ तक विवेकानन्द के भाषण का एक वाक्य नहीं छपा था, क्योंकि उस समय जो एक भाषण विवेकानन्द जी का छपा था, वह सारे देश को और सारी दुनिया को जो मालूम था, वह बैरोज नामक सज्जन की इतिहास की किताब से लिया गया था, लेकिन हम उस विदुषी महिला को प्रणाम करते हैं, अमरीकी महिला को, कि जितने पश्चिम में विवेकानन्द की आध्यात्मिक विजय के आख्यान को छः खण्डों के एक विशाल ग्रन्थ में निरूपित किया है। उसमें एक वाक्य है, जो शिकागो के एक संवाददाता महोदय ने अपने अखबार में लिखा था, उससे उद्धृत किया गया है, और वह वाक्य इस देश को जो तोड़नेवाले लोग हैं, विवेकानन्दजी की ओर से मैं उनको समर्पित करता हूँ - "मैं उस धर्म का अनुयायी होने में गौरव अनुभव करता हूँ, जिस धर्म में बहिष्कार नामक शब्द होता ही नहीं; उसका कोई तर्जुमा, उसका कोई अनुवाद होता ही नहीं। हम सारी दुनिया को, सारे धर्मों को, सभी ऋषियों को एक साथ लेकर के चलते हैं।" यह स्वामीजी का पहला सन्देश था। मुख्यमंत्रीजी, मैं और आप तो वहाँ थे नहीं, हममें से कोई भी वहाँ नहीं था, लेकिन रोमाँ रोलाँ ने लिखा है - "जब मैं उन शब्दों को पढ़ता हूँ तो मेरे शरीर में विद्युत तरंगों का झटका सा लगता है। कितने भाग्यवान थे धरती के वे लोग, जिन्हें ये ज्वलन्त शब्द महामानव के मुख से प्रत्यक्ष रूप से सुनने को मिले होंगे।" ऐसा लगा मानो पुराणों के पन्नों में जान पड़ गई हो, ऐसा लगा मानो दुर्गा-सप्तशती की विद्रोही भाषा हमारी शताब्दी का इतिहास बदलने को गरज उठी हो, ऐसा लगा मानो भारत के विद्रोही सन्तों की आत्मा का स्वर विवेकानन्द के कण्ठों को

चीरकर समा गया हो।

वह तीस साल का नौजवान संन्यासी इस देश में अपरिचित था, तब तक उन्हें यहाँ कोई जानता नहीं था और इतनी बड़ी प्रसिद्धि मिलने के बाद अमेरिका के एक बहुत समृद्ध व्यक्ति के सुसज्जित मकान में उनको ठहराया गया। आप इस बात को जानते हैं कि विवेकानन्द इस रात बिस्तर पर नहीं सो पाये। आँसुओं से उन्होंने अपना तकिया भिगो दिया। वे धरती पर सोये और रात भर रोते रहे, बड़बड़ाते रहे, कहते रहे -"माँ, यह नाम लेकर मैं क्या करूँगा, यह यश लेकर मैं क्या करूँगा, मेरे देश के ३३ करोड़ लोग अगर भूख से पीड़ित हैं, मर रहे हैं, तो यह इतनी बड़ी प्रसिद्धि लेकर मैं क्या करूँगा ? माँ, मुझे शक्ति दो, यश और समृद्धि मैं नहीं चाहता। मैं अपने उन भाइयों के लिए रोटी के एक टुकड़े का इंतजाम अगर कर सका तो मेरा जीवन धन्य हो जायगा।" हिन्दुस्तान के इतिहास में, नई पीढ़ी के इतिहास में अब तक ऐसा कोई महापुरुष नहीं हुआ, जिसने एक रोटी के टुकड़े के सहारे ईश्वर को देखने की कोशिश की हो और वह भी विदेश की धरती पर; यह काम स्वामीजी ने किया। और उसके बाद, उसके बाद तो यश का एक सिलसिला जैसे उसके पीछे लग गया।

सारे अमरीका, इंग्लैंड आदि पश्चिम के तमाम देशों में उनके भाषण हुए। जगह-जगह वे गये मैजिनी, बिस्मार्क या लेनिन की तरह स्वामीजी भी एक महान देशभक्त थे। उनमें प्लेटिनस और स्पिनोजा की रहस्यात्मक अनुभूति थी। वे वैदान्तिक दर्शन के एक बहुत बड़े आचार्य अवश्य थे, लेकिन उनमें मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य की भक्ति-भावना भी थी। उन्होंने कांट, शापेनहावर, स्पेंसर, मिल आदि तमाम तरह के विद्वानों का अध्ययन किया था। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के २० में से ११ खण्ड स्वामी विवेकानन्द को कण्ठस्थ थे।

उन महान साधु, उन महान संन्यासी, उन महान वीरात्मा की याद में आपने यह जो आयोजन किया और उसमें मुझ जैसे एक अकिंचन व्यक्ति को यहाँ खड़ा कर दिया, इसके लिए मैं आपका बहुत-बहुत अहसानमन्द हूँ। एक-दो बुनियादी बातें, विद्वानों की इस सभा में मुझे कहनी हैं, यहाँ हमारे कुलपति, हमारे प्राचार्य और सबसे बढ़कर इस आश्रम-परिवार के लोग यहाँ पर बैठे हैं, यहीं पर वह बात गम्भीरता से कही जा सकती है। स्वामी विवेकानन्द, अन्य साधुओं से, अन्य विद्वानों से, अन्य देशभक्तों से कई मायनों में अलग थे। सबसे बुनियादी बात यह है कि विवेकानन्द विश्व के पहले बुद्धिजीवी थे, जिन्होंने खुद को लघु भारत कहा था। उन्होंने कहा था, "मैं कण्डेन्स्ड इण्डिया हूँ"। स्वामीजी आज आप नहीं हैं, आपकी आत्मा हमारे साथ है। अगर आप

होते तो मैं आपसे पूछता। आप केवल कण्डेन्स्ड इण्डिया या लघु भारत नहीं थे। आपका आशय यह था कि 'मैं किसी एक धर्म का प्रतिनिधि नहीं हूँ, किसी एक विचारधारा का प्रतिनिधि नहीं हूँ, किसी एक सम्प्रदाय का, किसी एक प्रदेश का प्रतिनिधि नहीं हूँ, मैं भारत की पूरी भावधारा का प्रतिनिधि हूँ'। केवल इतना ही नहीं, स्वामीजी आधुनिक भारत के पहले ऋषि थे, जो पूरी दुनिया के प्रतिनिधि थे। वे केवल हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि नहीं थे। और जब वे अमरीका गये तो वहाँ ईसाइयत के होते हुए भी अमरीका की छाती पर उन्होंने हिन्दुस्तान के वेदान्त का झण्डा गाड़ा। तब विवेकानन्द की आवाज केवल हिन्दुस्तान की आवाज नहीं थी, एक धर्म की आवाज नहीं थी, वह एक विश्ववाद की पैरवी की आवाज थी, इसलिये अमरीका के लोगों ने उसे ग्रहण किया। कुछ लोगों को यह सुनकर अटपटा लगेगा, वे हिन्दुस्तान को केवल अपनी जननी समझकर ही प्यार नहीं करते थे। वे भारतमाता को इसलिए प्यार करते थे कि धरती के भूगोल पर, धरती के इतिहास में अगर कोई देश पैदा हुआ है, जिसने आदर्शों के वास्ते कुर्बानियाँ की हैं, तो वह हमारा हिन्दुस्तान है, हमारा भारतवर्ष है और इसीलिये वे अपनी मातृभूमि से प्यार करते थे। स्वामीजी कहते थे कि अगर हिन्दुस्तान दुनिया के नक्शे से मिट जायेगा, हिन्दुस्तान का आदर्श मिट जायेगा, हिन्दुस्तान में आदर्श के लिए जीनेवाले लोग मिट जायेंगे, तो धरती का इतिहास मिट जायेगा, सभ्यता का इतिहास मिट जायेगा, यह बुनियादी बात, यह असली बात थी जो विवेकानन्द कहते थे। इससे पहले हिन्दुस्तान का कोई आदमी ऐसी बात नहीं कह सका।

हमारी दूसरी बुनियादी राष्ट्रीय समस्या जिससे विवेकानन्द जूझ रहे थे, वह कुण्ठा की भावना थी। हममें से बहुत से लोग, मैं तो गया ही नहीं और न जाने की बहुत इच्छा ही है, लेकिन आज भी जो बहुत से लोग विदेशों में जाते हैं, वे अपने देश की बुराई भी करते हैं। वे कुण्ठा की, हीनता की भावना से ग्रस्त होकर हिन्दुस्तान की बहुत सी बातों की निन्दा करते हैं। स्वामी विवेकानन्द पहले भारतीय थे, जो पश्चिम में गये और वहाँ जाकर शेर की माँद में उन्होंने उसे पराजित किया, कुण्ठा की भावना से उन्होंने बातें नहीं की। हिन्दुस्तान के दर्शन को लेकर, हिन्दुस्तान की बुनियादी बातों को लेकर, जिस तरह तर्क के साथ उन्होंने अमरीका के लोगों को, बौद्धिक लड़ाई में निर्णयात्मक ढंग से पराजित किया, वे पहले हिन्दुस्तानी थे, जो इस काम को करने में समर्थ हुए।

कितने लोग जानते हैं इस बात को कि स्वामी विवेकानन्द का आजादी की लड़ाई से बड़ा गहरा रिश्ता था। अमरीका की विजय के बाद, जब वे इंग्लैंड आये, वहाँ

एक भाई से मिले और पूछा कि हिन्दुस्तान में क्या हो रहा है ? तो उन्होंने बहुत गौरव के साथ कहा कि कांग्रेस बहुत काम कर रही है। हम लोग सरकार से बारम्बार रह रहे हैं कि हमको स्थानीय प्रशासन में हिस्सा मिलना चाहिए। स्वामीजी ने कहा स्थानीय प्रशासन में हिस्सा लेने से, केवल भीख माँगने से हिन्दुस्तान को आजादी नहीं मिलेगी, अगर हिन्दुस्तान को आजादी चाहिए तो देश की जनता को इस लड़ाई से जोड़ना पड़ेगा और जब तक हिन्दुस्तान के ३३ करोड़ लोग मुल्क की आजादी की इस लड़ाई से नहीं जुड़ेंगे, तब तक केवल कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग हिन्दुस्तान में आजादी नहीं ला सकते। और उन्होंने यहाँ तक कहा था कि हिन्दुस्तान को एक आजाद देश घोषित कर दो, उसके बाद जो होगा देखा जायेगा। एक न एक दिन तो हिन्दुस्तान आजाद होगा। यह बात स्वामीजी ने उस सदी की साँझ में कही थी, जब हम महात्मा गांधी का नाम तक नहीं जानते थे, जब लोकमान्य तिलक जरूर हमारे अग्रणी नेता के रूप में आ गये थे। लेकिन हमारी आजादी की लड़ाई का आन्दोलन बहुत आगे नहीं बढ़ सका था।

मैं यह सूचित करते हुए फिर से गौरव का अनुभव करता हूँ कि विवेकानन्द पहले समाजवादी विचारक थे। हममें से बहुत से लोग शहीद-ए-आजम भगतसिंह को भी जानते हैं। हम जानते हैं कि वे कुर्बानी के नायक थे; परन्तु शायद हम उन्हें ठीक से नहीं जानते कि हिन्दुस्तान की राजनीति को सरदार भगतसिंह का योगदान समाजवाद पर लिखी उनकी किताब है; लेकिन उसके भी काफी पहले स्वामी विवेकानन्द ने इस देश में पहली बार घोषणा की थी कि 'मैं समाजवादी हूँ'। समाजवाद नाम का शब्द पहले विवेकानन्द के मुँह से निकला, जो आज हमारे संविधान का आदर्श है और जिस पर हम ईमानदारी के साथ चलने की पूरी कोशिश कर रहे हैं। और विवेकानन्दजी ने भविष्यवाणी की कि रूस में क्रान्ति होगी, चीन में क्रान्ति होगी। ये दोनों हिंसक क्रान्तियाँ होंगी। लेकिन वे कहते थे कि मैं हिन्दुस्तान में हिंसक क्रान्ति नहीं चाहता। इसलिए नहीं कि हिंसा से उन्हें परहेज था, इसलिए नहीं कि हिंसा से उनको डर था। एक बहुत महत्वपूर्ण बात विवेकानन्द ने कही थी, जिस पर बुद्धिजीवियों को कहीं न कहीं शोधकार्य करना चाहिए। पेइचिंग और मास्को के विश्वविधालयों में बराबर शोधकार्य हो रहा है। उन्होंने कहा कि जब कोई देश हिंसक क्रान्ति में लग जाता है, तव सांस्कृतिक मूल्यों में गिरावट आती है। और जब सांस्कृतिक मूल्यों में गिरावट आती है तो वह देश नीचे गिर जाता है। हमने रूस को टूटते देखा है । हमने चीन में आतंक का साम्राज्य देखा है। स्वामीजी कहते थे कि हमें अपने देश में क्रान्ति

करनी होगी। क्रान्ति भले धीरे हो, लेकिन वह हिंसक क्रान्ति नहीं होगी। हम सांस्कृतिक मूल्यों को नष्ट किए बिना इस देश के अन्दर क्रान्ति करेंगे। नहीं कह सकता कि अर्थशास्त्र के विद्वान मेरी बात से सहमत होंगे या नहीं। मुझे लगता है कि विवेकानन्द ने कार्लमार्क्स को शायद नहीं पढ़ा था। पूरी तौर से तो नहीं ही पढ़ा होगा। लेकिन मार्क्स और विवेकानन्द के विचारों में गहरी समानता है। मार्क्स आदमी को केवल अंकगणित की इकाइयाँ ही समझता था और उनको क्रान्ति के सिपाहियों में तब्दील करना चाहता था। स्वामीजी ने एक-एक आदमी के अन्दर आध्यात्मिक शक्ति के दर्शन किये थे और उस शक्ति को ही केन्द्र बनाकर, जो हमारे वैदान्तिक दर्शन का केन्द्रबिन्दु है, हम उसी के जरिये क्रान्ति लायेंगे, इस बात को लेकर चलते थे। यह फासला मार्क्स से एक कदम आगे था।

कभी-कभी मुझे लगता है कि हम जो हिन्दुस्तानी हैं, पश्चिम की तरफ मुँह करके देखनेवाले, पश्चिम की नकल करनेवाले, पश्चिम की तरह कपड़े पहननेवाले, शोध कार्य तक में उनकी नकल करनेवाले, हमको यह बात पता नहीं कि आज से कोई डेढ़-पौने दो सौ बरस पहले मार्क्स जो कह गया है कि सम्पत्ति की असलियत को खत्म करो, लेकिन इस देश के अन्दर आज से कई हजार बरस पहले ही ऋषि अंगिरस ने कहा कि सम्पत्ति के मोह को खत्म करो। और उसी के आधार पर विवेकानन्द ने पहली बार इस देश में कहा कि 'मैं एक समाजवादी हूँ'। आप में से कितने लोग इस बात को जानते हैं कि डार्विन का जो विकासवाद का सिद्धान्त हमारे विद्यार्थी पढ़ते हैं, उसका पूरक सिद्धान्त पातंजल योगशास्त्र के आधार पर धरती के इतिहास में अगर किसी ने प्रतिपादित किया है तो स्वामी विवेकानन्द ने किया है ! आपमें से कितने लोग जानते हैं कि मनोविज्ञान के महान विचारक विलियम जेम्स ने यह बात कही है कि आज के आधुनिक मनोविज्ञान में अवचेतन की धारणा अगर किसी व्यक्ति ने दी है तो वे स्वामी विवेकानन्द हैं ! मनोविज्ञान के इन आचार्य को, विकासवाद के इन आचार्य को, अर्थशास्त्र के इन आचार्य को, राजनीति शास्त्र के इन आचार्य को हममें से कितने लोग जानते हैं ! हम विवेकानन्द को केवल भगवाधारी संन्यासी माने तो यह उनके साथ अन्याय होगा।

आज जो देश में बहुत कुछ चल रहा है, हो सकता है कि हममें से बहुत से लोग उससे सहमत नहीं होंगे। लेकिन जो सामाजिक मूल्यों में बदलाव आ रहा है, सदियों से जो लोग नीचे थे, अब वे ऊपर आ रहे हैं। बहुत सी बातें मण्डल कमीशन की कही जाती हैं, बहुत सी बातें पिछड़े वर्गों की कही जाती हैं, जो अब ऊपर आ

रहे हैं। इसकी भी भविष्यवाणी हिन्दुस्तान की धरती पर सबसे पहले किसी ने की तो स्वामी विवेकानन्द ने। उन्होंने घोषणा की थी कि सदियों से जो लोग पीड़ित हैं, पददलित हैं, एक दिन उनकी भी हुकूमत इस देश में स्थापित होगी। कितनी बड़ी क्रान्ति की बात है !

स्वामी विवेकानन्द पहले व्यक्ति थे जो कहते थे कि औरत को बराबर की आजादी मिलनी चाहिए। वे उदाहरण देते थे कि क्या कोई पक्षी एक पंख पर उड़ सकता है ? उसे दोनों पंखों पर उड़ना चाहिए। और हमारे यहाँ कभी-कभी छोटे-छोटे अपराध होते हैं, कभी-कभी बड़े-बड़े अपराध भी होते हैं। कई तरह की घटनाएँ होती हैं, उनसे हम लोग बहुत जल्दी उत्तेजित हो जाते हैं। लेकिन यहाँ जो क्रिमिनालॉजिस्ट है, अपराधशास्त्र के या पुलिस विभाग के आला दर्जे के अफसर कहीं सुन रहे हों, तो इस बात पर मनोवैज्ञानिक चिन्तन करें। जब स्वामीजी अमरीका से लौट रहे थे तो एक यूरोपीय विदुषी और एक सज्जन भी उनके साथ थे। रास्ते में उन्होंने कहा-- स्वामीजी आपका देश तो महान है। उन्होंने पूछा - कैसे ? उत्तर मिला - आपके देश के अन्दर अपराध नहीं होते। वह अपराध, जो यूरोप अमरीका की धरती पर होते हैं, जितने ज्यादा घनीभूत अपराध होते हैं, वैसे हिन्दुस्तान में नहीं होते। और कोई भारतीय होता तो फूलकर कुप्पा हो जाता, अपनी वाहवाही सुनकर खुश हो जाता। स्वामीजी ने कहा - मैं इस बात पर खुश नहीं हूँ। हिन्दुस्तान में अपराध होने चाहिये। हिन्दुस्तान में अपराध बढ़ने चाहिये। तभी तो मेरे देश को उसकी तपस्याओं से निजात मिलेगी। वे इस बात को समझे नहीं। तब स्वामीजी ने कहा - मेरे देश मे अपराध इसलिये नहीं होते कि हम तमस में, गहरे कुहासे में, गहरे अन्धकार डूबे हुए हैं। अगर किसी देश को तरक्की करनी है तो वह अपराध भले करे, लेकिन उसको अन्धकार में नहीं रहना चाहिये, कायरों की तरह नहीं रहना चाहिये। निर्भीक बनो, कायर नहीं। यही विवेकानन्द थे, जिन्होंने कहा था की मैं बच्चों के विवाह के खिलाफ हूँ। सोचिए, उस जमाने में कही थी; आज से सौ वर्ष पहले। वे कहते - जो बच्चों का विवाह करते हैं ऐसे माता-पिताओं का मैं वध करने को भी तैयार हूँ लेकिन समाज की यह वहशी प्रथा किसी भी कीमत पर खत्म हो जानी चाहिये।

और जो सबसे बुनियादी बात है, जिसको लेकर हम जूझ रहे हैं, वह है शिक्षा का मामला। स्वामी विवेकानन्द देश के पहले शिक्षाशास्त्री थे जिन्होंने यह बात कही थी कि हमें पश्चिमी शिक्षा की नकल नहीं करनी चाहिये। यह पश्चिमी शिक्षा चरित्र नहीं पैदा करती, यह रोजगारमूलक अवसर भी पैदा नहीं करती, इसलिए शिक्षा की

इस प्रणाली को हमें खत्म करना चाहिए और एक नई प्रणाली का विकास करना चाहिए। आप में से कितने लोग जानते हैं, खासतौर से देश की नौजवान पीढ़ी कितना जानती है कि स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा विषयक विचारों एक छोटी-सी किताब निकली है। उसके छपने के पहले महात्मा गांधी ने उसकी भूमिका लिखी। बापू ने उसमें लिखा कि जो कुछ विवेकानन्द ने लिखा है उसको परिचय की जरूरत नहीं है, वह तो पढ़ने ही से सीधे जेहन के अन्दर घुसता है। यह बापू का १२५वीं जयंती का वर्ष है। महात्मा गांधी की आज हम याद करते हैं। महात्मा गांधी ने कहा था कि केवल विवेकानन्द को पढ़ने से मैं हिन्दुस्तान को, उसकी जनता को, और ज्यादा प्यार करने लगा हूँ, और ज्यादा समझने लगा हूँ। एक छोटी सी किताब शिक्षा की, अगर उस किताब को हम पढ़े, और अगर वह किताब हमारे बच्चों को पढ़ाई जाय, स्कूलों के अन्दर पढ़ाई जाय, पाठ्यक्रम में विवेकानन्द के पाठ अगर ज्यादा संख्या में पढ़ाये जायँ, तो बहुत-सी वे बीमारियाँ मिट जायेंगी, जिनका हमारी सरकार इलाज ढूँढने की कोशिश कर रही है। जगजीवनराम जी ने एक सभा में कहा था कि रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द की शिक्षाओं को अगर हम केवल स्कूली पाठ्यक्रम में शामिल कर दें, तो मुझ जैसे प्रतिरक्षामंत्री की देश को आवश्यकता नहीं होगी। सारी दुनिया को प्रतिरक्षा मंत्री की आवश्यकता नहीं होगी।

आज हमारे आदरणीय मुख्यमंत्री जी ने आश्रम के प्रांगण में एक भेंट ग्रहण की है और वह है विवेकानन्दजी के साहित्य का पूरा सेट। मैं उन्हें सूचित करना चाहता हूं कि एक ऐसा ही अवसर आज से अनेकों वर्ष पहले आया था, प्रेसीडेण्ट सुकार्णो जो इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति रहे हैं, उन्होंने अपनी किताब में भी कहीं यह लिखा है - मेरे पास जीवन की जो सबसे बहुमूल्य सम्पत्ति है, वो है स्वामी विवेकानन्द का साहित्य, जो मेरे शयनकक्ष में रखा है। मैं और कुछ नहीं करता, जीवन के अन्दर बड़ा काम या पुण्य का काम नहीं करता, लेकिन जब भी मुझे अवसर मिलता है रात को सोने के पहले मैं विवेकानन्द साहित्य का एक या दो पृष्ठ पढ़ता हूँ, उसके बाद ही सोता हूँ। मैं मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्रीजी से प्रार्थना करूँगा कि आज विवेकानन्दजी का जो सेट उन्हें मिला है, वह भी उनके शयनकक्ष में रखा जाय। और राजनीति की तमाम तरह की विषमताओं से जूझते रहने के बावजूद उन्हें विवेकानन्द साहित्य के एक या दो पृष्ठ पढ़ने के लिये रात को समय निकालना चाहिये। इस आश्रम के प्रांगण में कम से कम यही वादा हमसे कर जायें तो हमारी नौजवान पीढ़ी को उससे एक प्रेरणा मिलेगी।

मैं एक बात और आपको कहना चाहूँगा। अर्नाल्ड टाइन्बी का नाम आपने सुना होगा। हमारी पीढ़ी के सबसे महान इतिहासकार, उसकी वृत्तियों के महान व्याख्याकार, एक बात उन्होंने कही है - बीसवीं सदी की शुरुआत तो पश्चिम ने की है, लेकिन दुनिया को अगर जीवित रहना हे, तो इस सदी की अंत हिन्दुस्तान को, उसके आदर्शों को करना पड़ेगा। वरना हमको डूब मरने का, हमको खत्म हो जाने का कहीं न कहीं खतरा है। जिस बुनियादी राष्ट्रीय समस्या से हम जूझ रहे हैं, जिसको लेकर देश में मारकाट मची हुई थी, वह ईश्वर की कृपा से अभी थमी हैं, वह है हमारी असाम्प्रदायिकता, हमारी धर्मनिरपेक्षता का भाव - सर्वधर्म समभाव। तो इस सन्दर्भ में स्वामीजी के शब्दों में मुझे अपनी बात खत्म करनी होगी। वे, अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण की वाणी को, उनके आदर्शों को ध्यान में रखकर कहते थे - हम हिन्दू केवल सहिष्णु ही नहीं हैं, हम सभी धर्मों से खुद को एकाकार कर देते हैं, हम हिन्दू मन्दिरों में प्रार्थना करते हैं, हम मुसलमानों की मस्जिदों में नमाज़ पढ़ते हैं, हम यहूदियों के सिनेगाग में जाते हैं, हम ईसा के सलीब के सम्मुख झुकते हैं, हम आत्मा की तलाश में एकजुट हो अपने शरीर को तिल-तिल करके ठठरी बनानेवाले भगवान बुद्ध की प्रतिमा के सामने खड़े होकर अभिभूत हो जाते हैं। हम महावीर की तरह आत्मा की तलाश में एकजूट हैं, हम अन्तःकरण की स्वतंत्रता में विश्वास करते हैं। हम धरती की, देश की, दुनिया की, विचारों की आज़ादी में विश्वास करते हैं।" यही रामकृष्णदेव की शिक्षाओं का सार विवेकानन्दजी के जीवन से हमने सीखा। हमारी बहुत सी बुनियादी राष्ट्रीय समस्याएँ हैं, जिनका हल विवेकानन्दजी के पास है।

मैं स्वामीजी की याद में प्रणाम करता हुआ और मुख्यमंत्री जी को केवल ये ही दो-एक अनुरोध करता हूँ कि शिक्षा के पाठ्यक्रम में विवेकानन्द का ख्याल किया जाय। हम एक ऐसी जगह खड़े हैं, एक ऐसे शहर में हम खड़े हैं, हमको गौरव है कि हम रायपुर के लोग हैं; विवेकानन्दजी कलकत्ता को छोड़कर , बंगाल को छोड़कर पूरी दुनिया में अगर कहीं दो साल रहे हैं, तो इस रायपुर शहर में ही रहे हैं। उनका बचपन यहाँ पर बीता है। रामकृष्ण मिशन के अतिरिक्त भी हमारा भी कर्तव्य है, नागरिक कर्तव्य है, सरकार का कर्तव्य है, हमारी पीढ़ी का कर्तव्य है, दिग्विजय सिंहजी जैसे नौजवान नेता का कर्तव्य है कि हम उनकी याद में रायपुर में अवश्य कुछ न कुछ महत्वपूर्ण कार्य करें।

# स्वामी विवेकानन्द और वर्तमान भारत

*श्री दिग्विजय सिंह*

मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश शासन

(९ सितम्बर १९९४ ई० को रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्वावधान में स्वामी विवेकानन्द के शिकागो अभिभाषण की शतब्दि-पूर्ति समारोह के अन्तर्गत आयोजित सभा में मुख्य अतिथि के रूप में प्रदत्त व्याख्यान का अनुलिखन।)

आज के भारत का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि यहाँ हर स्तर पर चारित्रिक अवमूल्यन हो रहा है। आप किसी क्षेत्र की बात लीजिए, किसी संस्था की बात लीजिए, हमारा स्तर गिरता जा रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम उन मान्यताओं, उन परम्पराओं, उन विचारों को फिर से जागृत करें, जिनके लिए भारत जाना जाता था, और जिन पर भारत गर्व करता था। आज के नौजवान के पास समय नहीं है। उसके पास सब कुछ के लिए समय है, काम के लिए भी समय है, लेकिन अच्छे लोगों के सम्पर्क और संगत में आने के लिए उसके पास समय नहीं है। आज जब हर तरफ अन्धकार नजर आता है, वहीं रामकृष्ण मिशन के प्रांगण में आकर ऐसा लगता है कि यहाँ पर एक दीप प्रज्वलित है। इसीलिए मैं हमेशा कहता रहा हूँ कि आज संस्थाओं को और संस्थाओं में भी रामकृष्ण मिशन जैसी संस्थाओं को हम जितना काम सौपें, उतना ही कम है।

अभी जब मैं आ रहा था, तो रास्ते में छोटे-छोटे बालक लाइन में लगे खड़े थे। ये बालक आसपास के मुहल्लों में रहते हुए आश्रम में थोड़ा समय बिताने के लिए आते हैं। उन बच्चों के चेहरे पर चमक, आदर का भाव यह दर्शाता है कि ये ही बालक यदि इस रामकृष्ण मिशन के प्रांगण में नहीं आते, तो न जाने इन गली-कूचों और मुहल्लों में क्या करते होते ! आज ऐसे प्रांगण हर नगर, हर गाँव, हर शहर में हों तो अपने-आप जो चारित्रिक अवमूल्यन अपने समाज में आज पैदा हुआ है, उसे दूर किया जा सकता है।

मैं सन् ८६ में स्वर्गीय स्वामी आत्मानन्दजी के साथ नारायणपुर गया था। मैं समझता हूँ वे क्षण मेरे जीवन के बहुत महत्वपूर्ण क्षण थे। अबुझमाड़ के उन दूर-दराज अंचलों में रहनेवाले आदिवासियों के मन में उन्होंने विश्वास पैदा किया। उन्होंने वह संस्था जो तैयार की, आज फल-फूल रही है और वे ही बच्चे, जिनके पिता-माता उन्हें अपने घर से बाहर किसी स्कूल में भेजने के लिए तैयार नहीं थे, जो तन पर कपड़ा भी नहीं पहनकर शिक्षा से काफी दूर थे, वे ही बालक छः महीने के अन्दर

वेदों का पाठ कर रहे थे और शुद्ध उच्चारण कर रहे थे। शायद हम लोगों में से कई ऐसे व्यक्ति हैं, जिनको उन वेदों का पाठ करने के लिए कहा जाए तो उस तरह का उच्चारण हम लोग नहीं कर पायेंगे। लेकिन उन अबुझमाड़ निवासियों के छोटे छोटे बालकों को छः महीने के अन्दर इन समर्पित स्वामियों ने इस प्रकार ढाला और मुझे प्रसन्नता है कि वह बैच जो सन् ८५-८६ में भर्ती हुआ था, मुझे बताया गया कि पिछले साल १०वीं कक्षा में वे पास हुए हैं और अच्छे अंकों के साथ पास हुए हैं। और मैं इस बात से पूरी तरह से आश्वस्त हूँ कि जिन आदिवासी बच्चों ने रामकृष्ण मिशन में पढ़ा हो, वे निश्चित रूप से किसी भी शासकीय स्कूल के विद्यार्थियों से बेहतर निकलेंगे, क्योंकि उन्होंने न केवल शिक्षा प्राप्त की है, बल्कि उनके संस्कार भी जागृत हुए हैं और आज देश जो संस्कारविहीन समाज में बदलता जा रहा है, उसके समक्ष यही एक सबसे बड़ी कमजोरी है।

आज संस्कार ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते। आज सुसंस्कृत परिवारों में भी जो संस्कारों की कमी आती जा रही है इसे मैं सबसे बड़ी चुनौती मानता हूँ। हमारी शिक्षा का विज्ञान तो बढ़ा, हर प्रकार की टेक्नॉलाजी और जानकारी मिली, बच्चों को नये नये पाठ्यक्रम दिए गए; लेकिन बच्चों में स्कूलों के माध्यम से, शिक्षकों के माध्यम से, उनके गुरुजनों के माध्यम से जो भारतीय संस्कृति के संस्कार उत्पन्न होने चाहिए, वो किसी शासकीय शाला में हमें देखने को नहीं मिलते। क्योंकि हमारे पास समय नहीं है। हमारे पास हर काम के लिए समय है, लेकिन हमारे ही लोगों में, बच्चों, परिवार के लोगों में संस्कार जागृत करने का हमारे पास समय नहीं है।

आज यह सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है कि स्वामी विवेकानन्द एक शुद्ध हिन्दू नेता थे। जो ऐसा प्रचार कर रहे हैं, वे स्वामीजी के साथ सबसे बड़ा अन्याय कर रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द जी कोई हिन्दूवादी नेता नहीं थे। वे तो एक सर्वश्रेष्ठ मनुष्य थे, जिन्होंने धर्म और धर्म की व्याख्या को जन-जन तक पहुँचाने का अथक प्रयास किया और सार्वभौमिक धर्म का स्वरूप अपने लेखनी के माध्यम से दिया। आज हमारे नौजवानों में और समाज के पढ़े लिखे लोगों में जो धर्मान्धता का जहर घोला जा रहा है, जिस प्रकार से हिन्दू धर्म को विकृत करने की कोशिश की जा रही है यह हमारी दूसरी बड़ी चुनौती है। मै समझता हूँ कि जब तक हम स्वामी विवेकानन्द के विचार जन जन तक नहीं पहुँचायेंगे, तब तक हम हिन्दू धर्म की इस विकृत व्याख्या को सुधार नहीं पायेंगे। आज की आवश्यकता है कि हम स्वामी विवेकानन्दजी के विचारों को शिक्षा के माध्यम से पाठ्य-पुस्तकों में डालें। शासन

की ओर से यह जिम्मेवारी हम स्वामीजी को ही देंगे कि वे विवेकानन्दजी के साहित्य में से वे भाग जो बच्चों को पढ़ना चाहिये, जो प्राथमिक शाला में, माध्यमिक शाला में और सैकेण्ड्री स्कूल शाला में पढ़ना चाहिए, मोरल साइंस, चरित्र निर्माण के बारे में, हम चाहेंगे कि वे उन सारे उद्धरणों का लेखा-जोखा तैयार करें और बताएँ कि किस प्रकार उन्हें पाठ्यक्रमों में शामिल किया जा सकता है। मैं उन्हीं से निवेदन करूँगा कि वे इसमें हमारी मदद करें और आगामी वर्ष के पाठ्यक्रमों से हम चाहेंगे कि स्वामी विवेकानन्द के विचार हमारे शासकीय स्कूलों में बच्चों को पढ़ाये जायँ। मैं हमेशा ही कहता रहा हूँ कि स्वयंसेवी संस्थायें सामने आयें। शासन पर हर किस्म की जवाबदारी छोड़ने की जो प्रवृत्ति है, मैं इसके सख्त खिलाफ हूँ। बहुत दिनों से यह प्रवृत्ति चल रही हैं कि संस्था खोलो, चल रही है तो चल रही है, नहीं चल रही है तो शासन को सौंप दो। मैं इसके सख्त खिलाफ हूँ। हमने यह तय किया है कि हम किसी संस्था का शासकीकरण नहीं करना चाहते। बल्कि हम तो यह चाहते हैं कि जो शासकीय संस्थायें चल रही हैं, उनका भी निजीकरण हो, और हम चाहते हैं कि रामकृष्ण मिशन जैसी संस्था के कर्मठ लोगों को इसमें आगे आना चाहिए ताकि शासकीय संस्थाओं में भी सुधार लाया जा सके। जब तक ऐसे समर्थित, ऐसे निष्कपट और ऐसे निष्ठावान लोग समाज में ज्यादा से ज्यादा पैदा नहीं होंगे, आगे नहीं आयेंगे, तब तक हम आदर्श संस्थाओं का निर्माण नहीं कर सकते। आज अपने बच्चे हम शासकीय शालाओं में क्यों नहीं भेजते ? जिसके पास खर्च करने को पैसा है, वह कभी उन्हें शासकीय शाला में नहीं भेजेगा। अगर हमारे पास पैसा है, तो हम अपने किसी भी सम्बन्धी को इलाज के लिए सरकारी अस्पताल में नहीं भेजेंगे। इसका एकमात्र कारण यही है कि जो लगन, निष्ठा और जो समर्पण की भावना हमारे समाज में होनी चाहिए आज हम उससे पूरी तरह से वंचित हैं। केवल किस प्रकार दिन काटें और ज्यादा से ज्यादा चारों तरफ से बटोर सकें, यही हमारे जीवन का लक्ष्य बन चुका है, हमारा धर्म बन चुका है।

हम किस प्रकार इससे अलग हटकर देश के बारे में सोचें, समाज के बारे में सोचें, उन शोषित-पीड़ित लोगों के बारे में सोचें ? मैं यह समझता हूँ कि स्वामीजी ने जो यह बात कही है कि 'दरिद्रनारायण की सेवा ही परम धर्म है' - इससे बड़ी बात धर्म के बारे में समझने की आपको जरूरत नहीं है, बड़े बड़े ग्रंथ और पोथे पढ़ने की जरूरत नहीं है। सबसे बड़ा जो उनका उपदेश रहा है वह यह है कि जब तक हमारे समाज में लोग पीड़ित रहेंगे, शोषित रहेंगे, गरीब रहेंगे, अशिक्षित रहेंगे,

तब तक हमें अपने आप को राष्ट्रद्रोही मानना चाहिये और यह बात स्वामी विवेकानन्द जी ने अनेकों बार कही है। मैं समझता हूँ कि आज यह चुनौती आप और हम सबके सामने है।

आप किसी क्षेत्र में काम करते हों, आप किसी स्थान पर काम करते हों, सत्यता, निष्ठा, ईमानदारी - ये मानक बड़े कठिन हैं, विशेषकर आज के युग में, जबकि आस-पड़ोस में आप देखेंगे कि जो तिकड़मी है वह सबसे आगे है, जो सबसे सीधा है, ईमानदार है, वह लाइन में ही खड़ा रह जायगा और सामनेवाले आयेंगे तथा अपना काम बनाकर चले जायेंगे। आज जागृति पैदा करना होगा, ऐसे लोगों को समझाना और मजबूर करना होगा कि यदि लाइन में कोई व्यक्ति खड़ा है, तो जब तक उसका नम्बर न आये, वह आगे न बढ़े। यह छोटी-छोटी बातें हैं, लेकिन इस पर आम आदमी का विचार, आम आदमी का चरित्र यह सब परिलक्षित होता है। मैं बहुत बड़ी-बड़ी बातें कर तो रहा हूँ, लेकिन जिस क्षेत्र में काम करता हूँ, उसी क्षेत्र में जो हालात हैं, उन्हें आप जानते हैं।

शुरुआत कहाँ से करें, यह समझ में नहीं आता। लेकिन मैं आपसे अनुरोध करता हूँ, हमारे स्वामीजी से अनुरोध करता हूँ कि आप अपनी संस्थायें जितनी हैं उतनी ही रखें, पर उन नौजवानों के लिये समय समय पर सात दिन का, दस दिन का, पन्द्रह दिन का और सौ दिन का पाठ्यक्रम प्रारम्भ करें। निष्ठा, ईमानदारी, लगन, चारित्रिक उत्थान के बारे में उन्हें प्रेरित करें, ताकि हम सब मिलकर भारत के एक सच्चे सपूत के रूप में अपने गिरते हुए स्तर को सुधारने का प्रयास करें और मेरा विश्वास है कि स्वामी विवेकानन्द जी के विचार, स्वामी विवेकानन्द जी की लेखनी, आज के भारत के लिए न केवल सामयिक है, अपितु आवश्यक भी है। मुझे उम्मीद है कि हम सब मिलकर उनसे प्रेरणा लेते हुए एक ऐसे भारत का निर्माण करेंगे, जिसमें हर व्यक्ति अपनी ईमानदारी, निष्ठा के साथ काम करता रहेगा और जो एक दूसरे के सर पर चढ़कर, कुचलकर आगे बढ़ने की जो हमारी प्रवृत्ति हो गयी है, जिस प्रकार का चारित्रिक अवमूल्यन हमारे हर क्षेत्र में हुआ है, उसे हम दूर करने का प्रयास करेंगे। अन्त में मैं आदरणीय स्वामीजी का और आप सबके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मुझे यहाँ बोलने का अवसर प्रदान किया और मुझे पूरी उम्मीद है कि यह रामकृष्ण आश्रम एक दीप के समान इस अँधेरे को दूर करता रहेगा, इस प्रकार के दीप ज्यादा से ज्यादा हमारे प्रदेश में जलें, मेरी यही कामना है। धन्यवाद।

# स्वामी विवेकानन्द की प्लेग-सेवा (१)

*स्वामी विदेहात्मानन्द*

पिछले वर्ष बीड़ (महाराष्ट्र), सूरत (गुजरात) तथा दिल्ली में सहसा फैली प्लेग की महामारी ने पूरे देश में आतंक का माहौल पैदा कर दिया था। यह आतंक वस्तुतः भ्रम के फलस्वरूप फैला था और सौभाग्यवश जैसे इसका सहसा आगमन हुआ था, वैसे ही लोप भी हो गया। तथापि भारत में जैसी निर्धनता, अस्वच्छता तथा स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव व्याप्त है, उससे भविष्य में पुनः इस महामारी के आगमन की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस ऐतिहासिक घटना ने हमें अपने कर्तव्य पर पुनर्विचार करने को बाध्य कर दिया है। स्वामी विवेकानन्द के जीवनकाल के दौरान भी भारत में प्लेग का प्रकोप फैला था। उस समय उन्होंने जो प्रतिक्रिया व्यक्त की और जिस प्रकार अपना सर्वस्व होम कर देने का संकल्प किया उसका इतिहास न केवल रोचक, अपितु अत्यन्त प्रेरणादायी भी है। अस्वस्थ होने के बावजूद अपनी पूरी शक्ति लगाकर उन्होंने अपने शिष्यों तथा सहयोगियों के साथ सफाई तथा सेवा-कार्य में स्वयं को झोंक दिया और इस प्रकार अपने देशवासियों के समक्ष एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया था।

## भारत में प्लेग

पिछली कई शताब्दियों से प्लेग की महामारी ने दुनिया के विभिन्न अंचलों और विशेषकर यूरोप में काफी दहशत मचा रखी थी और यूरोप की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा निगल लिया था। भारत में भी १८९६ से १९१८ ई. के दौरान एक करोड़ से भी अधिक लोग इसके शिकार हुए। बाद में क्रमशः चिकित्सा विज्ञान की उन्नति तथा स्वास्थ्य सुविधाओं में विस्तार के साथ-साथ प्लेग क्रमशः लुप्तप्राय चला है। पिछले सौ वर्षो के दौरान प्लेग के द्वारा भारत में हुई मौतों की संख्या इस प्रकार है -

१८९६ से १९०६ तक - ६० लाख ३३ हजार
१९०९ से १९१८ तक - ४२ लाख २२ हजार
१९१९ से १९२८ तक - १७ लाख ०२ हजार
१९२९ से १९३८ तक - ४ लाख २३ हजार
१९३९ से १९४८ तक - २ लाख १८ हजार
१९४९ से १९५८ तक - ५९ हजार
१९५९ से १९६८ तक मात्र ६७८

### प्रथम प्रादुर्भाव

१८९८ ई० में जब कलकत्ते में पहली बार प्लेग का आगमन हुआ, उस समय स्वामीजी अस्वस्थ थे और चिकित्सकों की सलाह पर दार्जिलिंग गये हुए थे। समाचार -पत्रों में अप्रैल के अन्तिम सप्ताह में ही प्लेग के छुटपुट मामलों के संवाद आने लगे थे और इसके विकराल रूप धारण करने की सम्भावना हो गई थी। २९ अप्रैल को स्वामीजी ने वहीं से अपने एक पत्र में लिखा, "कलकत्ते में यदि प्लेग शुरू हो जाय, तो मेरे लिए कहीं जाना सम्भव न होगा। जिस शहर में मैंने जन्म लिया है, वहाँ पर यदि प्लेग का प्रादुर्भाव हो, तो उसके प्रतिकार के लिए मैंने आत्मोत्सर्ग करना निश्चित कर लिया हैं।"[१]

इसके एक-दो दिन बाद ही समाचार मिला कि वहाँ प्लेग-भय का द्रुत वेग से प्रसार हो रहा हैं और लोग बड़ी संख्या में नगर छोड़कर भाग रहे हैं। इसके फलस्वरूप उन्हें बड़ा सदमा पहुँचा और स्वास्थ्य में और भी गिरावट आ गयी। स्वामी अखण्डानन्द उनके साथ ही दार्जिलिंग में थे। उन्होंने बाद में स्वामीजी की तत्कालीन मानसिक अवस्था का विवरण देते हुए बताया था, "स्वामीजी इतने आनन्दमय व्यक्ति थे, परन्तु एक दिन सुबह सहसा मैंने पाया कि वे बड़े गम्भीर हैं। दिन भर उनहोंने कुछ खाया नहीं। मौन रहे। डॉक्टर को बुलाया गया, पर वे भी किसी रोग का निर्धारण नहीं कर पाये, एक तकिये पर सिर रखे वे दिन भर बैठे रहे। बाद में सुना कि कलकत्ते में प्लेग के कारण तीन-चौथाई लोग शहर छोड़कर चले गये है - ऐसा समाचार सुनने के बाद से ही उनकी यह हालत है। उस समय स्वामीजी ने कहा था, 'सर्वस्व बेचकर भी इनकी सेवा करनी होगी। हम जैसे वृक्षतल-वासी फकीर थे, वैसे ही पेड़ों के नीचे रहेंगे।"[२]

अपना भग्न स्वास्थ्य लिए ही स्वामीजी ३ मई को वापस बेलुड़ मठ पहुँचे। उस दिन कलकत्ते की जो अवस्था थी, उसके विषय में अगले दिन के 'आनन्दबाजार पत्रिका' ने लिखा, "आतंक का रूप अभूतपूर्व है। इसके पहले कलकत्ता की विराट् जनसंख्या में कभी ऐसी हलचल नहीं मची थी। जिन महिलाओं का मुख कभी सूर्य ने भी नहीं देखा, वे भी नगर के पथ से होकर दौड़ रही हैं या ट्राम में चढ़कर भागना चाहती हैं। पैदल ही पलायन क्यों हो रहा हैं ? इसलिए कि कोई सवारी मिलनी सम्भव नहीं है। गाड़ी का किराया प्रति घण्टे १० रुपये। फिर गाड़ियों की संख्या भी सीमित है। हावड़ा स्टेशन की ओर जो जनप्रवाह दौड़ रहा था, वह हावड़ा

---

१ विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ४००

२ स्वामी अखण्डानन्द (बँगला ग्रन्थ), स्वामी अन्नदानन्द, पृ. १५९

पुल पर अँट नहीं सका। उसी भीड़ में धक्कामुक्की करते महिलाएँ भी दौड़ रही हैं। नाववाले एक पैसे की जगह पाँच रुपयों की माँग कर रहे हैं। सभी भाग रहे, जीवन के भय से भागे चले जा रहे हैं।"[३] उसी समाचार-पत्र में यह भी बताया गया है कि ऐसा अफवाह फैला है कि सरकार सबको जबरन टीका लगवा रही है और टीका लगाते ही लोग मर जाते हैं। इसके फलस्वरूप ३ मई को पूरे नगर का कामकाज ठप्प हो गया और लोग दंगा करने के लिए विभिन्न स्थानों पर एकत्र होने लगे थे, परन्तु सौभाग्यवश दंगा टल गया। पूना के 'मराठा' पत्र ने अपने ८ मई के अंक में सूचित किया है कि कुछ दिनों के भीतर ही कलकत्ते की आठ लाख जनसंख्या में से दो लाख नगर छोड़कर जा चुके हैं।

### सेवा की योजना

स्वामीजी ने कलकत्ता लौटकर अपनी आँखों से ऐसी हालत देखी। उन दिनों मठ बेलुड़ के नीलाम्बर मुकर्जी के उद्यान-भवन में स्थित था। स्वामीजी ने तत्काल मठवासियों तथा भक्तों की एक सभा बुलाई। इस सभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, "देखो, भगवान के पवित्र नाम पर हम सभी यहाँ एकत्र हुए हैं। हमें मृत्युभय को तुच्छ मानकर इन प्लेग रोगियों की सेवा करनी होगी। इनकी सेवा करते, दवा देते, चिकित्सा कराते यदि हमारे इस नवीन मठ की जमीन भी बेच डालनी पड़े, अपना जीवन भी विसर्जित कर देना पड़े, तो हम इसके लिए भी तैयार हैं।"[४]

सभा में अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी निश्चित हुआ कि सर्वप्रथम बँगला तथा हिन्दी में प्लेग से सम्बन्धित एक पत्रक बनाकर, उसका वितरण किया जाय। स्वामीजी के निर्देशानुसार दो दिनों के भीतर भगिनी निवेदिता ने में वह पत्रक तैयार किया। स्वामी अखण्डानन्द ने तत्काल उसका हिन्दी अनुवाद भी कर डाला और उनके मुद्रण की व्यवस्था करने में लग गये। वह पत्रक कुछ इस प्रकार था -

### ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

कलकत्तानिवासी भाइयो,

(१) हम आपके सुख में सुखी और दुख में दुखी हैं। इस दुर्दिन के समय आप सबका मंगल हो और रोग तथा महामारी के भय से सहज ही छुटकारा मिले, यही हमारी चेष्टा तथा निरन्तर प्रार्थना रहेगी।

(२) इस महारोग के भय से बड़े-छोटे, धनी-गरीब सभी व्यग्रता के साथ नगर

---

३. स्वामी विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष (बँगला ग्रन्थ), शंकरीप्रसाद बसु, खण्ड ४, पृ. १२६
४. स्वामी अखण्डानन्द, पृ. १५२

छोड़कर चले जा रहे हैं। यदि सचमुच ही यह रोग हमारे बीच फैल जाता है, तो आप सबकी सेवा करते करते प्राण तक चले जाने पर भी हम अपने को धन्य मानेंगे, क्योंकि आप सभी भगवान की मूर्ति हैं। आपकी सेवा तथा ईश्वर की उपासना में कोई भेद नहीं। जो अंहकार, अन्धविश्वास अथवा अज्ञान के कारण इस बात को नहीं समझता, वह निःसन्देह भगवान के समक्ष अपराधी तथा महापाप का भागी होगा।

(३) हमारी सविनय प्रार्थना है कि अकारण ही आप भय से उद्विग्न न हों। भगवान के ऊपर निर्भर होकर आप स्थिर चित से उपाय सोचें अथवा जो ऐसा कर रहे हैं, उनकी सहायता करें।

(४) भय कैसा? कलकत्ते में प्लेग आ गया है - जनता के मन में समाया हुआ यह भय निराधार है। अन्यान्य स्थानों में प्लेग की जैसी विकराल मूर्ति दीख पड़ी थी, ईश्वरेच्छा से कलकत्ते में वैसा कुछ नहीं हुआ है। सरकार भी हमारे प्रति विशेष अनुकूल है।

(५) आइये, हम समस्त वृथा भय को छोड़कर, भगवान की असीम दया में विश्वास रखते हुए , कमर कसकर कर्मक्षेत्र में उतर जायँ, शुद्ध और पवित्र भाव से जीवन यापन करें। रोग-महामारी आदि उनकी कृपा से जाने कहाँ चली जायेंगी।

(६.क) मकान, बरामदे, शरीर के वस्त्र, बिस्तर, नालियाँ आदि सर्वदा स्वच्छ रखें।

(ख) सड़ा और बासी अन्न न खाकर ताजा व पौष्टिक आहार खाइये। दुर्बल शरीर में रोग होने की सम्भावना अधिक है।

(ग) मन को सदा प्रफुल्ल रखिए। मृत्यु तो केवल एक ही बार होती है, परन्तु केवल अपने मन के भय से मनुष्य बारम्बार मृत्यु-पीड़ा का भोग करता है।

(घ) जो लोग अनुचित उपायों से जीविकोपार्जन करते हैं, जो दूसरों का अमंगल करते हैं, भय उन्हें कभी नहीं छोड़ता। अतएव इस महा मृत्युभय के समय वे सारी वृत्तियाँ त्याग देनी चाहिए।

(ङ) गृहस्थ होने पर भी महामारी के दिनों में काम-क्रोध से विरत रहें।

(च) बाजार की अफवाहों पर विश्वास न करें।

(छ) अंग्रेज सरकार किसी को जबरन टीका नहीं लगवाएगी। जिसकी इच्छा होगी वही टीका लगवाएगा।

(ज) जाति, धर्म तथा महिलाओं के पर्दा की रक्षा करते हुए, हमारी विशेष देखरेख में हमारे अस्पताल में रोगियों की चिकित्सा हो, इसके लिए हम कुछ उठा

नहीं रखेंगे। धनी लोग (चाहे तो) भाग जायँ, हम गरीब हैं और गरीबों की अन्तर्वेदना समझते हैं। असहाय की जगदम्बा स्वयं ही सहाय है। माँ अभय दे रही हैं। भय नहीं! भय नहीं!

(७) भाई, यदि आपका कोई सहायक न हो तो अविलम्ब बेलुड़ मठ में भगवान रामकृष्ण के दासों को सूचित करें। शरीर के द्वारा जितनी भी सहायता हो सकेगी, उसमें कोई भूल न होगी। माँ की कृपा से आर्थिक सहायता भी हो सकती है।

विशेष द्रष्टव्य - महामारी के निवारणार्थ प्रतिदिन संध्या को हर मुहल्ले में नाम-संकीर्तन कीजिए।[५]

## पर्चे का वितरण

इस पत्रक को बँगला तथा हिन्दी में मुद्रित कराने तथा वितरण करने का भार स्वामी अखण्डानन्द ने लिया था। उन दिनों कलकत्ते में आवागमन के सारे साधन ठप हो चुके थे। किसी प्रकार बड़ाबाजार पहुँचकर एक प्रेस में उन्होंने ये पत्रक छपवाये। फिर उनका वितरण करते हुए उन्हें जिन संकटों का सामना करना पड़ा उसका किंचित् विवरण उनकी बँगला जीवनी में लिपिबद्ध है।

कई हजार मुद्रित पर्चों का एक बण्डल लेकर प्रेस से हैरिसन रोड तक आते ही चारों ओर से असंख्य लोगों की भीड़ ने आकर उन्हें ऐसे घेर लिया कि उनके लिए सांस लेना तक मुश्किल हो गया। बड़े कष्ट से वे एक एक मुट्ठी पर्चे निकालकर एक एक दुकान की ओर फेंकने लगे। लोगों के उसी ओर दौड़ पड़ने से उन्हें पल भर को फुरसत मिलती। परन्तु थोड़ा आगे बढ़ते ही वह उद्दाम जनप्रवाह पुनः प्रबल वेग के साथ उन पर टूट पड़ता। वे उसी प्रकार मुट्ठी भर-भरकर पर्चे फेंकते हुए किसी प्रकार क्रमशः स्ट्रैण्ड रोड के टकसाल तक पहुँचे। यहाँ पहुँचकर उन्होंने भीड़ से छुटकारा पाने के बाद एक परिचित भक्त के घर थोड़ा विश्राम किया। इसके बाद टकसाल के नीचे बैठकर वे दिन भर पर्चे बाँटते रहे।

दूसरे दिन भी वहीं बैठकर दोपहर डेढ़ बजे तक पर्चे बाँटने के बाद जब वे भक्त के घर के दूमंजले पर पहुँचे तो उसी समय चार-पाँच लोगों ने तेजी से आकर उन्हें घेर लिया और कहने लगे, "आप कौन हैं ? क्यों सरकार के अनुचित कार्यों में सहायता कर रहे हैं ? आदि आदि।" अखण्डानन्दजी के कुछ बोलने के पहले ही भक्त ने आकर कहा, "स्वामीजी, आप व्यर्थ परेशान न हों। ये लोग समझने वाले नहीं हैं। आप पर्चे मुझे देकर भीतर चले जायँ, नहीं तो आपका जीवन संकट

५. स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला ग्रंथ), स्वामी अब्जजानन्द, पृ. २४४-४६

में पड़ जाएगा।'' इस प्रकार उन भक्त ने समयोचित प्रत्युत्पन्न मति दिखाकर दुष्ट लोगों से उनकी रक्षा की।

उन दिनों अखण्डानन्दजी का स्वास्थ्य अच्छा न था, फिर बारम्बार खतरों के सम्मुखीन होकर भी तीसरे दिन पुनः वे कालीघाट के इलाके में पर्चे बाँटने गये। वहाँ की हालत भी कुछ विशेष अच्छी न थी। स्थानीय लोग उन पर कटाक्ष करते हुए कहने लगे, ''सरकार से कितने पैसे खाये हैं ? जीवन को क्या इतना ही सस्ता समझ लिया है।'' अखण्डानन्दजी ने रुककर एक बार उन्हें समझाने का प्रयास किया कि 'प्लेग का क्या कारण है और उसका निवारण कैसे किया जा सकता है।' परन्तु उनका यह प्रयास भैंस के आगे बीन बजाना ही सिद्ध हुआ। सबने समझा - यह सरकारी गुप्तचर है और साधु के छद्मवेश में प्लेग-टीका का प्रचार करने आया है - और उन्हें तरह तरह की धमकियाँ देने लगे। वहाँ से लौटते समय देश में फैली व्यापक अज्ञता एवं आत्मघाती प्रवृत्ति पर विचार करते हुए अखण्डानन्दजी का मन दुःख से आच्छन्न हो गया।

### मठ वेचने का संकल्प

इस प्रकार प्लेग के विषय में फैली भ्रान्तियों एवं अफवाहों को दूर करने के प्रयास के साथ ही साथ स्वामीजी ने रोगियों की चिकित्सा एवं देखभाल के लिए अनेक सेवाकेन्द्रों की स्थापना का भी संकल्प किया था। इतना बड़ा आयोजन देखकर एक गुरुभाई ने उनसे पूछा, ''इसके लिए रुपये कहाँ से आयेंगे ?'' स्वामीजी ने भौंहें चढ़ाकर उत्तर दिया, ''क्यों ? आवश्यकता हुई तो मठ के लिए खरीदी हुई नई जमीन को बेच डालेंगे। हम तो ठहरे फकीर; हमें पहले की ही भाँति सदैव करतलभिक्षा और तरुतलवास के लिए तैयार रहना होगा। हजारों असहाय नर-नारी हमारी आँखों के सामने असीम कष्ट भोगें और हम मठ में रहें, यह भला कैसे हो सकता है !''

नर-नरायण की सेवा के लिए जिस बेलुड़ मठ की जमीन को बेचने का संकल्प स्वामीजी ने किया था, उनके जीवन में उसकी स्थापना के महत्व पर भी यहाँ थोड़ी चर्चा प्रासंगिक होगी। कलकत्ता में गंगा के तट पर अपने गुरुदेव की समाधि तथा मठ बनवाना स्वामीजी के जीवन का एक प्रधान लक्ष्य एवं स्वप्न था और वे जानते थे कि भविष्य में इस केन्द्र से भावतरंगें उठकर भारत को नवजीवन तथा विश्व इतिहास को एक नयी दिशा प्रदान करेंगी। आनेवाली अनेक पीढ़ियों के लिए यह श्रद्धा एवं प्रेरणा का एक महान अधार होगा। इसी कारण उन्होंने इसकी स्थापना

के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी और अनेक वर्षों के अथक परिश्रम के बाद ही वे अपने विदेशी अनुरागियों की सहायता से यह भूखण्ड खरीद सके थे।

आठ वर्ष पूर्व २६ मई, १८९० ई. के दिन अपनी इस योजना के विषय में उन्होंने श्री प्रमदादास मित्र को लिखा था, "श्रीरामकृष्ण का आदेश था कि उनकी त्यागी भक्तमण्डली एकत्र हो और उसका भार मुझे सौंपा गया था। ...उस आज्ञा के अनुसार उनकी संन्यासी-मण्डली वराहनगर के एक जीर्ण-शीर्ण मकान में एकत्र हुई है और सुरेशचन्द्र मित्र एवं बलराम वसु नामक उनके दो गृहस्थ शिष्यों ने इस मण्डली के भोजन, मकान-किराये आदि का भार लिया है। ...उपरोक्त दो सज्जनों की प्रबल इच्छा थी कि गंगातट पर थोड़ी-सी जमीन खरीदकर वहाँ (श्रीरामकृष्ण की) पवित्र अस्थियों को समाधिस्थ करें और शिष्यमण्डली वहीं एक साथ रहे। ...शिष्य लोग सब संन्यासी हैं और जहाँ कहीं ठौर मिले, जाने को तैयार है। पर मैं उनका सेवक मर्मान्तक वेदना का अनुभव कर रहा हूँ कि भगवान श्रीरामकृष्ण की अस्थियों की प्रतिष्ठा के लिए थोड़ी-सी भी जमीन गंगा के किनारे न मिल सकी। यह सोचकर मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है। ...इसमें कम से कम पाँच-सात हजार रुपये लगेंगे। अपने प्रभु एवं उनकी सन्तानों के लिए द्वार द्वार भिक्षा माँगने में मुझे किंचिन्मात्र संकोच नहीं, ...चोरी-डकैती करनी पड़े तो उसके लिए भी मैं राजी हूँ।"[६]

समाधि-मन्दिर तथा मठ स्थापना की यह आकांक्षा उनके अन्तर सुलगती रही और अन्ततः ४ मार्च (१८९८) अर्थात् दो माह पूर्व ही वे इसके लिए गंगातट पर एक विशाल भूखण्ड खरीद सके थे। इसके पीछे अपने अथक प्रयास के बारे में बताते हुए एक दिन उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी ब्रह्मानन्द से कहा था, "राखाल, याद करो । आज उस बात को कितने दिन हो गये! बारह-तेरह वर्ष पहले की बात है - इसी गंगा के तट पर हम कुछ लोग (श्रीरामकृष्ण की) चिताभस्म लिए रो रहे थे। मैंने कहा, 'उनकी अस्थियाँ गंगा के किनारे रखना उचित है, गंगातट पर ही मन्दिर बनना चाहिए, क्योंकि गंगातट से उन्हें बड़ा प्रेम था। ...(पर) मेरी बात नहीं सुनी। मेरे हृदय में बड़ी पीड़ा हुई थी। राखाल, याद करो, मैंने कैसी दृढ़ प्रतिज्ञा की थी। पिछले बारह वर्षों से मैं बुलडाग के समान उसी विचार को पकड़कर तमाम दुनिया घूमा हूँ, एक दिन भी सोया नहीं। उस विचार ने मुझे एक दिन के लिए भी नहीं छोड़ा। और आज देखो मैंने उसे सफल किया।"[७]

---

६. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३७३-७५

७. स्मृतिर आलोय स्वामीजी (बँगला ग्रन्थ), पृ. १८३-८४

इससे हम अनुमान लगा सकते है कि दीन-दुखी रोगियों की पीड़ा ने उनकी हृत्तन्त्री को किस गहराई तक स्पन्दित कर दिया था कि वे अपने परमप्रिय बेलुड़ मठ की जमीन तक बेचकर उनकी सेवा में उत्सर्ग कर देने को प्रस्तुत थे। स्वामीजी द्वारा मठ-भूमि को बेच डालने के संकल्प के विषय में अवगत होने पर उनके एक वरिष्ठ गुरुभाई स्वामी शिवानन्द ने कहा, "स्वामीजी, तुम तो हर काम माताजी से पूछकर ही करते हो। इस विषय में भी क्या माँ की अनुमति न लोगे ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "ठीक कहते हो तारक दादा! मुझसे भूल हो गयी। मैं अभी उनका आदेश लेने जाता हूँ।" साथ में कई अन्य गुरुभाई भी गये। माताजी को प्रणाम करने के उपरान्त स्वामीजी ने कहा, "माँ, रोगियों की सेवा के लिए रुपये नहीं हैं, अतः मठ की सम्पत्ति बेचकर उन्हीं रुपयों से सेवाकार्य चलाना चाहता हूँ। आपकी अनुमति चाहता हूँ। हम लोग साधु हैं, पेड़ों के नीचे जीवन बिता लेंगे।" माताजी उन्हें प्रायः हर कार्य में अनुमति दिया करती थीं, परन्तु आज उन्होंने कहा, "नहीं बेटा, तुम मठ को नहीं बेच सकते। मठ की स्थापना में तुमने मेरे नाम संकल्प किया है, ठाकुर के नाम उत्सर्ग किया है, तो फिर इसे बेचने का तुम्हें अधिकार ही कहाँ है ? तुम लोग शक्तिमान पुत्र हो, पेड़ों के नीचे जीवन बिता सकोगे, परन्तु भविष्य में मेरे जो बच्चे आयेंगे वे पेड़ों के नीचे नहीं रह सकेंगे। उन्हीं के लिए यह मठ रहेगा। ...और फिर पूरा मठ क्या एक ही सेवाकार्य में समाप्त कर डालना उचित है ? ठाकुर के कितने ही कार्य हैं। उनके अनन्त भाव समग्र पृथ्वी पर फैलेंगे। युगों तक यह कार्य चलेगा।" स्वामीजी यह सुनकर थोड़े लज्जित हुए और बोले, "हाँ, यह बात तो मेरे ध्यान में ही नहीं आयी थी। भावावेग में मैं क्या करने जा रहा था ! सचमुच ही तो मुझे मठ बेचने का अधिकार नहीं है। राजा (स्वामी ब्रह्मानन्द) को मठ का अध्यक्ष और शरत (स्वामी सारदानन्द) को सचिव बनाया गया है। इन्हीं को सारे अधिकार प्राप्त हैं। मुझे अधिकार ही कहाँ है ? यह बात मेरे खयाल से उतर गयी थी।" इस घटना में हमें एक ओर जहाँ स्वामीजी की उत्कट परदुःख-कातरता के दर्शन होते हैं, वहीं दूसरी ओर माताजी की दूरदृष्टि की भी झलक मिलती है।

वैसे धन के अभाव में जो कार्य आरम्भ किये गये थे, उन्हें रोकने की आवश्यकता नहीं पड़ी; क्योंकि लोगों से आर्थिक सहायता आने लगी थी और दो सप्ताह के भीतर ही प्लेग का प्रकोप शान्त हो गया। जनता के आश्वस्त हो जाने के बाद स्वामीजी अपने कुछ गुरुभाइयों तथा पाश्चात्य शिष्यों के साथ अल्मोड़ा की यात्रा पर गये, परन्तु वहाँ पहुँचकर भी वे इसकी चिन्ता से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सके थे।

२० मई को उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द के नाम अपने पत्र में लिखा, "वहाँ (कलकत्ता में) इस समय (प्लेग के) जो दो-एक केस हो रहे हैं, उनकी उचित व्यवस्था के लिए सरकारी प्लेग-अस्पताल में पर्याप्त स्थान है और प्रति मुहल्ले में अस्पताल खोलने की चर्चा चल रही है। इन बातों को ध्यान में रखकर, जैसा उचित समझो व्यवस्था करना।"[८]

(अगले वर्ष कलकत्ते में प्लेग का पुनः आगमन हुआ और शीघ्र ही इसने भीषण महामारी का रूप धारण कर लिया। उस समय स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों, शिष्यों तथा शहर के नवयुवकों के साथ जो सेवाकार्य चलाया, उसका विवरण आगामी अंक में।)


## प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | प्रकाशन का स्थान | - | रायपुर |
| २. | प्रकाशन की नियतकालिकता | - | त्रैमासिक |
| ३-४. | मुद्रक एवं प्रकाशक | - | स्वामी सत्यरूपानन्द |
| ५. | सम्पादक | - | स्वामी विदेहात्मानन्द |
| | राष्ट्रीयता | - | भारतीय |
| | पता | - | रामकृष्ण मिशन, रायपुर। |
| | स्वत्वाधिकारी | - | रामकृष्ण मिशन, बेलुड़मठ। |

स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी हिरण्यमयानन्द, स्वामी सत्यघनानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी तत्वबोधानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी शिवमयानन्द।

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं ।

(हस्ताक्षर)

**स्वामी सत्यरूपानन्द**


८. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ४०३.

# माँ के सान्निध्य में (३५)

*सरयूबाला देवी*

(मूल बँगला ग्रन्थ "श्रीश्री मायेर कथा" के प्रथम भाग से इस अंश का अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं।- सं)

**अक्तूवर १९१२**

पूजा की छुट्टियों में मैं एक दिन सबेरे माँ के पास गयी। मैंने देखा कि माँ खूब व्यस्त हैं। उन्होंने मुझे बैठने को कहा और राँची से आये एक भक्त को बुलवा भेजा। भक्त बहुत से फल, फूल, कपड़ा और कपड़े के गुलाब के फूलों की एक माला जो देखने में सद्य खिले फूलों जैसे थे, लेकर ऊपर आये। भक्त ने माँ से वह माला गले में धारण करने का अनुरोध किया तो माँ ने गले में डाल लिया। इसी समय गोलाप-माँ ने यह देख कि माला में लगा लोहे का तार माँ के गले में लगेगा, भक्त की भर्त्सना की। भक्त को घबराया देख करुणामयी माँ ने कहा, "नहीं, वह नहीं लग रहा है; मैंने उसे कपड़े के ऊपर पहना है।" भक्त प्रणाम करके नीचे चले गये।

माँ और मैं बाद में प्रसाद पाने बैठे। माँ को देने के लिए मैं कुछ फल और नाश्ते की चीज ले गयी थी। माँ के पास उसे लाते ही उन्होंने कहा कि उसे ठाकुर को निवेदित करके ले आओ। लाने पर उसमें से एक अंगूर मुँह में डालकर बोलीं, "अहा ! बड़ा मीठा है।" मैंने उन्हें कुछ दिन पहले एक साड़ी दी थी। वही साड़ी उन्होंने पहनी थी। मुझे दिखाते हुए बोलीं, "देखा बेटी, तुम्हारी साड़ी को पहनकर मैंने उसे मैला कर दिया।" मैं अवाक होकर सोचने लगी - माँ, इस अयोग्य सन्तान के प्रति तुम्हारी इतनी कृपा और स्नेह ! वे स्वयं के पत्तल से प्रसाद उठा-उठाकर मुझे देने लगीं। मैं हाथ फैलाकर ले रही थी कि अचानक मेरा हाथ उनके हाथ से टकरा गया। मैंने कहा, "माँ, हाथ धो लीजिए।" हाथ में थोड़ा पानी लेते हुए माँ ने कहा, "लो हो गया।" इसी समय नलिनी दीदी आकर बैठीं। उन्हें पहले किसी कारण क्रोध आ गया था। माँ ने उनकी भर्त्सना करते हुए कहा, "स्त्रियों का इतना गुस्सा करना क्या ठीक है ? सहन-शक्ति होनी चाहिए। बचपन में माता-पिता की गोद तथा यौवन में पति का आश्रय छोड़ स्त्रियों का कोई स्थान नहीं। स्त्रियाँ बड़ी तुनकमिजाज होती हैं। तनिक सी बात उन्हें लग जाती है। और पुरुषों को बोलने में भला क्या लगता है ! इसलिए दुःख-कष्ट सहन करके भी (पति अथवा माता-पिता के पास) रहना चाहिए।"

कुछ देर बात राधू आयी और घुटनों तक कपड़ा उठाकर बैठी। यह देख माँ उसकी भर्त्सना करते हुए बोलीं, "यह क्या री! स्त्रियों का कपड़ा घुटनों से ऊपर क्यों उठना चाहिए ?" यह कहकर उन्होंने एक श्लोक कहा जिसका आशय था - स्त्रियों का घुटने के ऊपर कपड़ा उठना मानो नंगे होने के समान है।

चन्द्रबाबू की बहन आयी हैं। बातचीत के बीच उन्होंने पूछा, "माँ के पति हैं ? ये सब क्या उनके लड़के, लड़कियाँ, बहू आदि हैं ?"

मैंने कहा, "क्या आपने ठाकुर के बारे में सुना नहीं ? उनकी शिक्षा ही थी, कामिनी-कांचन का त्याग।"

वे अचकचा कर बोलीं, "मैंने समझा था - ये सब उनके लड़के, बहू आदि होंगे।"

दुर्गा पूजा आ रही है। इसीलिए माँ ने अपनी तीन भतीजियों के पतियों के लिए कपड़ा छाँट करके रखा और मुझे अलग से बाँध देने के लिए कहा। एक धोती मेरे हाथ में देकर बोलीं, "इसे सहेज कर रखो तो बेटी, पूजा के समय गनेन इसे पहनकर मठ जायेगा।"

दोपहर का भोग तथा प्रसाद पाना हो गया। भोजन के बाद माँ आराम करने लगीं। मैं पास में बैठकर पंखा झलने लगी। माँ ने कहा, "वहाँ से एक तकिया लाकर मेरे पास सोओ। और हवा करने की आवश्यकता नहीं।" माँ के तकिये में मैं कैसे सोऊँगी यह सोच मैं राधू के कमरे से एक तकिया ले आयी। देखते ही माँ हँसकर बोलीं, "वह तो पगली (राधू की माँ) की तकिया है री, तुम उसी तकिये को लाओ न। उससे दोष नहीं।" फिर राधू को बुलाकर बोलीं, "राधू, तू भी आ, अपनी दीदी के पास सो।"

चन्द्रबाबू की बहिन के सम्बन्ध में माँ के साथ मेरी बात होने लगी। माँ ने कहा, "तुम तो कह ही सकती थी - हाँ, उनके पति तो कमरे में बैठे हैं और हम सब उनके पुत्र-पुत्री हैं।"

मैं - इस तरह सारे विश्व ब्रह्माण्ड में तो उनके कितने ही पुत्र-पुत्री हैं माँ !

माँ हँसने लगीं। बातों ही बातों में उन्होंने कहा, "कितने लोग कितने प्रकार का भाव लेकर आते हैं, बेटी। कोई एक ककड़ी ठाकुर को देकर कितनी कामना से कहता है - 'ठाकुर, मैंने तुमको यह दिया, तुम मेरे लिए यह करो। इसी प्रकार कितने लोगों की कितने प्रकार की कामनाएँ !"

माँ करवट बदलकर तनिक सोयीं। मुझे भी थोड़ी नींद आ गयी। जागने पर

देखती हूं कि माँ पंखा झल रही हैं। थोड़ी देर बाद माँ उठीं। मैंने देखा कि पास के कमरे में कुछ स्त्रियाँ बैठी हुई हैं। उनमें से दो भगवावस्त्र धारिणी हैं। उन्होंने माँ को प्रणाम किया। उनके साथ एक छोटा लड़का भी आया था। उसके प्रणाम करने पर माँ ने भी उसे नमस्कार किया। वे लोग मिठाई लायी थीं। माँ ने मुझे उसे उठाकर रखने के लिए कहा और स्वयं हाथ मुँह धोने गयीं। परिचय से मालूम पड़ा कि वे कालीघाट के शिवनारायण परमहंस की शिष्या हैं तथा उनके गुरु के यहाँ दिन-रातव्यापी यज्ञ का अनुष्ठान हो रहा है, इत्यादि। कुछ देर बाद ही माँ आकर बैठीं। भगवा धारिणियों में से एक ने माँ से कहा, "आपसे एक प्रश्न पूछना चाहती हूँ।"

माँ - कहो।

भगवाधारिणी - मूर्तिपूजा में कोई सचाई है या नहीं ? हमारे गुरु कहते हैं - मूर्तिपूजा कुछ नहीं है सूर्य और अग्नि की उपासना करो।

माँ - तुम्हारे गुरु ने जब ऐसा कहा है तब वह बात मुझसे न पूछना ही ठीक है। गुरुवाक्य में विश्वास रखना चाहिए।

वे कहने लगीं, "नहीं, आपको अपनी राय देनी ही होगी।" माँ ने पुनः अपनी राय देने में असहमति जतायी, पर भगवाधारिणी किसी प्रकार भी छोड़ने को राजी नहीं। तब माँ ने कहा, "वे (तुम्हारे गुरु) यदि सर्वज्ञ होते - यह देखो तुम्हारे जिद के कारण, बात से बात निकली - तब वे ऐसी बात नहीं कहते। पुरातन काल से कितने ही लोग मूर्ति की उपासना करके मुक्तिलाभ करते आ रहे हैं। वह क्या कुछ नहीं है ? हमारे ठाकुर की उस प्रकार की संकीर्ण भेदबुद्धि नहीं थी। ब्रह्म सभी वस्तुओं में है। पर बात यह है - साधु पुरुषगण सब आते हैं मनुष्य को रास्ता दिखाने। अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग प्रकार की बातें कहते हैं। रास्ते अनेक हैं, इसलिए उन सबकी बात ही सही है। जैसे एक वृक्ष में सफेद, काला, लाल इत्यादि विभिन्न रंगों के पक्षी आकर बैठते हैं तथा तरह-तरह की बोली बोलते हैं। सुनने में अलग-अलग होने पर भी हम उन सबको पक्षी की बोली कहते हैं। यह नहीं कहते कि एक बोली ही पक्षी की बोल है और अन्य नहीं।"

वे लोग कुछ देर तर्क करके अन्त में निरुत्तर हो गयीं। बाद में उन्होंने श्री माँ से पूछा, "आपका घर कहाँ है ?"

माँ - कामारपुकुर, हुगली जिले में।

वे - यहाँ का पता क्या है, बताइये, हम लोग बीच-बीच में आयेंगी।

माँ ने पता लिख देने के लिए कहा। वे लोग जो मिठाई लायी थीं, श्री माँ ने पहले ही उसमें से कुछ मिठाई लड़के को देने के लिए कहा था और मैंने उसी समय दे दिया था। कुछ देर बाद उन लोगों ने विदा ली। उनके जाने पर माँ ने कहा, "स्त्रियों को भला तर्क करना चाहिए ? ज्ञानी पुरुषों ने ही भला तर्क द्वारा उन्हें कितना पाया है ! ब्रह्म क्या तर्क की वस्तु है ?" थोड़ी देर के बाद ही मेरी गाड़ी आयी। माँ ने कहा, "वे लोग कह रहे थे पटलडांगा की गाड़ी आ गयी, पैर गाड़ी तो अभी ही आयी।" यह कहकर उन्होंने शीघ्र ही ठाकुर को शाम का भोग दिया और कुछ प्रसाद, प्रसादी जल का ग्लास और दो पान लेकर बरामदे के आड़ से मुझे पुकारा, "आओ।" उनके स्नेह और यत्न से मेरी आँखों में आँसू भर आये। मैं सोचने लगी - अब न जाने कितने दिनों बाद माँ के दर्शन होंगे। क्योंकि दुर्गापूजा के बाद ही माँ काशी जाने वाली थीं। माँ ने स्नेहभरे स्वर से कहा, "फिर आना।" इसी समय चन्द्रबाबू ने आकर नाराजगी के स्वर में कहा, "बाहर गाड़ी खड़ी हुई है और कोचवान झल्ला रहा है। मैं सबको कहे दे रहा हूँ कि गाड़ी आने से कोई जरा भी देरी न करे।" माँ ने यह सुनकर कहा, "अरे, उसकी क्या गलती है, वह तो जा ही रही थी, आओ बेटी आओ।" अश्रुभरे नेत्रों से मैं उन्हें तुरन्त प्रणाम करके नीचे उतर आयी। प्राणों के आवेग से मैं उस दिन घर में किसी के साथ ठीक ढंग से बातचीत भी नहीं कर सकी। सारी रात उसी प्रकार बीत गयी।

### ३१ जनवरी, १९१३

पन्द्रह दिन हुए माँ काशी से लौटी हैं। सबरे मैंने जाकर देखा कि माँ पूजा कर रही हैं और पूजा प्रायः समाप्ति पर है। पूजा खतम होने पर माँ उठकर बोलीं, "बेटी, तुम आ गयी। मैं सोच रही थी कि शायद तुमसे भेंट न हो, क्योंकि शीघ्र ही गाँव चले जाना है।" मैं ठाकुर के भोग का सामान तैयार करके ले गयी थी। यह देखकर माँ बोलीं, "मैं सोच रही थी कि ठाकुर के भोग के लिए मिठाई कम है तो ठाकुर ने स्वयं अपने भोग की वस्तुओं का प्रबन्ध कर लिया --फिर घर में ही सब तैयार हुई चीजें !" ठाकुर को वह सब निवेदन करने के बाद भक्तों के लिए शाल के पत्ते में उसे एक एक करके रखने लगीं। भूदेव ने कहा, "इतना सब किसको दूँगा ?"

माँ ने हँसते हुए कहा, "लड़के की बुद्धि देखो ! नीचे में जो सब भक्त हैं, उनको देना। जाओ, जाकर दे आओ।"

कुछ देर पश्चात् राँची के एक भक्त ने आकर माँ को प्रणाम किया और फूलों की एक माला देकर, उनके चरणों के नीचे रुपये रखते हुए कहा, "सुरेन ने आपके लिए ये रुपये भेजे हैं।"

दिन चढ़ चुका था। राधू सामने के मिशनरी स्कूल में जाने के लिए खा-पीकर कपड़े पहन तैयार बैठी थी। ऐसे समय में गोलाप माँ ने आकर माँ को कहा,"लड़की बड़ी हो गयी है, अब उसे स्कूल जाने की क्या आवश्यकता है ?" यह कहकर उन्होंने राधू को स्कूल जाने से मना कर दिया। राधू रोने लगी।

माँ ने कहा, "अरे, वह भला कितनी बड़ी हो गयी ? जाये ना स्कूल ? लिखना, पढ़ना, शिल्प आदि सब सीख लेने से कितना उपकार न होगा ? जिस गाँव में शादी हुई है, यह सब जानने से वहाँ अपने तथा दूसरों का कितना उपकार न कर करेगी - क्यों बेटी ?" बाद में राधू स्कूल गयी।

अन्नपूर्णा की माँ, एक लड़की को दीक्षा के लिए लेकर आयी। उन्होंने माँ से कहा, "माँ, इसने तुम्हारे पास दीक्षा लेने के लिए मेरी जान खा ली। क्या करती इसे ले आयी।"

माँ - आज भला कैसे होगा ? मैंने नाश्ता कर लिया है।

अन्नपूर्णा की माँ - पर उसने तो नहीं खाया है। फिर माँ, तुम्हारे खाने में भला क्या दोष ?

माँ - क्या वह पूरी तरह तैयार होकर आयी है ?

अन्नपूर्णा की माँ - हाँ माँ, एकदम निश्चित करके ही आयी है।

माँ राजी हुईं। दीक्षा के बाद वे माँ से उस लड़की के बारे में कहने लगीं, "वह क्या ऐसी वैसी लड़की है माँ ? ठाकुर की किताब पढ़कर वह अपने बाल कटवा, पुरुष का वेश धारण कर तपस्या करने तीर्थ को निकल गयी थी। वह सीधे वैद्यनाथ धाम पहुँची। वहाँ एक जंगल में जाकर अकेली बैठी थी कि उसके माँ के गुरु उधर से निकले। उसे देखकर उन्होंने उसका परिचय पूछा और अपने साथ उसे ले आये। उसके पिता को सूचना देने पर फिर उसके पिता जाकर उसे ले आये ।"

माँ ने चुपचाप बातें सुनीं और बोलीं, "अहा ! कैसा अनुराग !" और सभी महिलाएँ कहने लगी, "अरी माँ, यह कैसी बात है। ऐसी रूपवती लड़की (वह बड़ी ही सुन्दर थी) कैसे घर से बाहर निकली, यह भला कैसी भक्ति और कैसा अनुराग है।"

नलिनी - बाप रे बाप, हमारा गाँव होने से तो खैर नहीं थी।

ये सब बातें उस लड़की और अन्नपूर्णा की माँ की अनुपस्थिति में हो रही थी। मेरे साथ आयी महिला और नलिनी दोनों ही अपने पतियों के साथ नहीं रहती थीं। किसी बात पर उनकी चर्चा निकली। माँ ने कहा, "ठाकुर कहते थे - 'स्त्री, गाय और धान इन तीनों को अपने सामने रखना चाहिए। फिर और कहा था, पौधे जब छोटे होते हैं तब उनके चारों ओर बेड़ा नहीं बाँधने से बकरी चर जाती है'।"

दोपहर में भोजन के बाद सभी ने पास के कमरे में आराम किया। नयी लड़की को माँ ने थोड़ा सोने के लिए कहा। उसने कहा, "नहीं माँ, मैं दिन के समय नहीं सोती।" मैंने उससे कहा, "माँ कह रही हैं उनकी बात माननी चाहिए।" "तो सो जाती हूँ" कहकर वह थोड़ी देर लेटी और फिर तुरन्त उठकर बरामदे में चली गयी। माँ ने कहा, "लड़की जरा चंचल है, इसीलिए बाहर चली गयी।" माँ ने लड़की की नौकरानी से पूछा, "लड़की का पति क्या करता है ? लड़की को वह अपने पास क्यों नहीं रखता ?"

नौकरानी ने कहा, "उन्हें कम वेतन मिलता है। फिर उनके घर में कोई नहीं है, उसको ले जाकर घर में अकेली भी नहीं रख सकते हैं। इसीलिए प्रत्येक शनिवार वे ससुराल चले आते हैं।"

अन्नपूर्णा की माँ - वह अपने पति को कहती है, 'तुम मेरे काहे के पति हो, जगत्पति ही मेरे पति हैं।'

माँ ने कोई उत्तर नहीं दिया।

ठाकुरघर के उत्तरी बरामदे में स्त्रियाँ बातचीत कर रही थीं। बड़ा शोर हो रहा था। माँ ने कहा - जाकर कह आओ तो बेटी, जरा धीरे बातचीत करें। शरत की नींद तुरंत टूट जायेगी (स्वामी सारदानन्द नीचे बैठकखाने में सोये थे)।"

माँ को कमरे में अकेली पा मैंने उनसे साधन-भजन तथा दर्शन के सम्बन्ध में कुछ बातें पूछीं। माँ ने कहा, "ठाकुर और मुझे अभेद दृष्टि से देखना और जिस प्रकार का दर्शन पाओगी उसी प्रकार की ध्यान-स्तुति करना। ध्यान हो जाने से ही पूजा खत्म हुई। यहाँ (हृदय में) ही आरम्भ और यहाँ (मस्तक में) समाप्त करना।" यह कहकर उन्होंने दिखा दिया।

माँ - मंत्र-तंत्र कुछ नहीं है बेटी, भक्ति ही सब कुछ है। ठाकुर के भीतर ही गुरु, इष्ट - सब पाओगी। वे ही सब कुछ हैं। (क्रमशः)